

## अथ प्रथमोऽध्यायः

### अवतरणिका —

पाण्डवोंने बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास समाप्त होनेपर जब प्रतिज्ञाके अनुसार अपना आधा राज्य माँगा, तब दुर्योधनने आधा राज्य तो क्या, तीखी सूईकी नोक-जितनी जमीन भी बिना युद्धके देनी स्वीकार नहीं की। अतः पाण्डवोंने माता कुन्तीकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पाण्डवों और कौरवोंका युद्ध होना निश्चित हो गया और तदनुसार दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी होने लगी।

महर्षि वेदव्यासजीका धृतराष्ट्रपर बहुत स्नेह था। उस स्नेहके कारण उन्होंने धृतराष्ट्रके पास आकर कहा कि 'युद्ध होना और उसमें क्षत्रियोंका महान् संहार होना अवश्यम्भावी है, इसे कोई टाल नहीं सकता। यदि तुम युद्ध देखना चाहते हो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि दे सकता हूँ, जिससे तुम यहीं बैठे-बैठे युद्धको अच्छी तरहसे देख सकते हो।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि 'मैं जन्मभर अन्धा रहा, अब अपने कुलके संहारको मैं देखना नहीं चाहता; परन्तु युद्ध कैसे हो रहा है—यह समाचार जरूर सुनना चाहता हूँ।' तब व्यासजीने कहा कि 'मैं संजयको दिव्य दृष्टि देता हूँ, जिससे यह सम्पूर्ण युद्धको, सम्पूर्ण घटनाओंको, सैनिकोंके मनमें आयी हुई बातोंको भी जान लेगा, सुन लेगा, देख लेगा और सब बातें तुम्हें सुना भी देगा।' ऐसा कहकर व्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान की।

निश्चित समयके अनुसार कुरुक्षेत्रमें युद्ध आरम्भ हुआ। दस दिनतक संजय युद्ध-स्थलमें ही रहे। जब पितामह भीष्म बाणोंके द्वारा रथसे गिरा दिये गये, तब संजयने हस्तिनापुरमें (जहाँ धृतराष्ट्र विराजमान थे) आकर धृतराष्ट्रको यह समाचार सुनाया। इस समाचारको सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ा दुःख हुआ और वे विलाप करने लगे। फिर उन्होंने संजयसे युद्धका सारा वृत्तान्त सुनानेके लिये कहा। भीष्मपर्वके चौबीसवें अध्यायतक संजयने युद्ध-सम्बन्धी बातें धृतराष्ट्रको सुनायीं<sup>१</sup>। पचीसवें अध्यायके आरम्भमें धृतराष्ट्र संजयसे पूछते हैं—

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।  
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—<sup>२</sup>

सञ्जय	= हे संजय! <sup>३</sup>	युयुत्सवः	= युद्धकी	पाण्डवाः	= पाण्डुके पुत्रोंने
धर्मक्षेत्रे	= धर्मभूमि		= इच्छावाले	एव	= भी
कुरुक्षेत्रे	= कुरुक्षेत्रमें	मामकाः	= मेरे	किम्	= क्या
समवेताः	= इकट्ठे हुए	च	= और	अकुर्वत	= किया ?

१-महाभारतमें कुल अठारह पर्व हैं। उन पर्वोंके अन्तर्गत कई अवान्तर पर्व भी हैं। उनमेंसे (भीष्मपर्वके अन्तर्गत) यह 'श्रीमद्भगवद्गीतापर्व' है, जो भीष्मपर्वके तेरहवें अध्यायसे आरम्भ होकर बयालीसवें अध्यायमें समाप्त होता है।

२-वैशम्पायन और जनमेजयके संवादके अन्तर्गत 'धृतराष्ट्र-संजय-संवाद' है और धृतराष्ट्र तथा संजयके संवादके अन्तर्गत 'श्रीकृष्णार्जुन-संवाद' है।

३-संजयका जन्म गवल्गण नामक सूतसे हुआ था। ये मुनियोंके समान ज्ञानी और धर्मात्मा थे—'सञ्जयो मुनिकल्पस्तु जज्ञे सूतो गवल्गणात्' (महाभारत, आदि० ६३। ९७)। ये धृतराष्ट्रके मन्त्री थे।

व्याख्या—‘धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे’—कुरुक्षेत्रमें देवताओंने यज्ञ किया था। राजा कुरुने भी यहाँ तपस्या की थी। यज्ञादि धर्ममय कार्य होनेसे तथा राजा कुरुकी तपस्याभूमि होनेसे इसको धर्मभूमि कुरुक्षेत्र कहा गया है।

यहाँ ‘धर्मक्षेत्रे’ और ‘कुरुक्षेत्रे’ पदोंमें ‘क्षेत्र’ शब्द देनेमें धृतराष्ट्रका अभिप्राय है कि यह अपनी कुरुवंशियोंकी भूमि है। यह केवल लड़ाईकी भूमि ही नहीं है, प्रत्युत तीर्थभूमि भी है, जिसमें प्राणी जीते-जी पवित्र कर्म करके अपना कल्याण कर सकते हैं। इस तरह लौकिक और पारलौकिक सब तरहका लाभ हो जाय—ऐसा विचार करके एवं श्रेष्ठ पुरुषोंकी सम्मति लेकर ही युद्धके लिये यह भूमि चुनी गयी है।

संसारमें प्रायः तीन बातोंको लेकर लड़ाई होती है—भूमि, धन और स्त्री। इन तीनोंमें भी राजाओंका आपसमें लड़ना मुख्यतः जमीनको लेकर होता है। यहाँ ‘कुरुक्षेत्रे’ पद देनेका तात्पर्य भी जमीनको लेकर लड़नेमें है। कुरुवंशमें धृतराष्ट्र और पाण्डुके पुत्र सब एक हो जाते हैं। कुरुवंशी होनेसे दोनोंका कुरुक्षेत्रमें अर्थात् राजा कुरुकी जमीनपर समान हक लगता है। इसलिये (कौरवोंद्वारा पाण्डवोंको उनकी जमीन न देनेके कारण) दोनों जमीनके लिये लड़ाई करने आये हुए हैं।

यद्यपि अपनी भूमि होनेके कारण दोनोंके लिये ‘कुरुक्षेत्रे’ पद देना युक्तिसंगत, न्यायसंगत है, तथापि हमारी सनातन वैदिक संस्कृति ऐसी विलक्षण है कि कोई भी कार्य करना होता है तो वह धर्मको सामने रखकर ही होता है। युद्ध-जैसा कार्य भी धर्मभूमि—तीर्थभूमिमें ही करते हैं, जिससे युद्धमें मरनेवालोंका उद्धार हो जाय, कल्याण हो जाय। अतः यहाँ कुरुक्षेत्रके साथ ‘धर्मक्षेत्रे’ पद आया है।

यहाँ आरम्भमें ‘धर्म’ पदसे एक और बात भी मालूम होती है। अगर आरम्भके ‘धर्म’ पदमेंसे ‘धर्’ लिया जाय और अठारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकके ‘मम’ पदमेंसे ‘म’ लिया जाय, तो ‘धर्म’ शब्द बन जाता

है। अतः सम्पूर्ण गीता धर्मके अन्तर्गत है, अर्थात् धर्मका पालन करनेसे गीताके सिद्धान्तोंका पालन हो जाता है और गीताके सिद्धान्तोंके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे धर्मका अनुष्ठान हो जाता है।

इन ‘धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे’ पदोंसे सभी मनुष्योंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि कोई भी काम करना हो तो वह धर्मको सामने रखकर ही करना चाहिये। प्रत्येक कार्य सबके हितकी दृष्टिसे ही करना चाहिये, केवल अपने सुख-आरामकी दृष्टिसे नहीं; और कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें शास्त्रको सामने रखना चाहिये (गीता—सोलहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)।

‘समवेता युयुत्सवः’—राजाओंके द्वारा बार-बार सन्धिका प्रस्ताव रखनेपर भी दुर्योधनने सन्धि करना स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्णके कहनेपर भी मेरे पुत्र दुर्योधनने स्पष्ट कह दिया कि बिना युद्धके मैं तीखी सूईकी नोक-जितनी जमीन भी पाण्डवोंको नहीं दूँगा।<sup>१</sup> तब मजबूर होकर पाण्डवोंने भी युद्ध करना स्वीकार किया है। इस प्रकार मेरे पुत्र और पाण्डुपुत्र—दोनों ही सेनाओंके सहित युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए हैं।

दोनों सेनाओंमें युद्धकी इच्छा रहनेपर भी दुर्योधनमें युद्धकी इच्छा विशेषरूपसे थी। उसका मुख्य उद्देश्य राज्य-प्राप्तिका ही था। वह राज्य-प्राप्ति धर्मसे हो चाहे अधर्मसे, न्यायसे हो चाहे अन्यायसे, विहित रीतिसे हो चाहे निषिद्ध रीतिसे, किसी भी तरहसे हमें राज्य मिलना चाहिये—ऐसा उसका भाव था। इसलिये विशेषरूपसे दुर्योधनका पक्ष ही युयुत्सु अर्थात् युद्धकी इच्छावाला था।

पाण्डवोंमें धर्मकी मुख्यता थी। उनका ऐसा भाव था कि हम चाहे जैसा जीवन-निर्वाह कर लेंगे, पर अपने धर्ममें बाधा नहीं आने देंगे, धर्मके विरुद्ध नहीं चलेंगे। इस बातको लेकर महाराज युधिष्ठिर युद्ध नहीं करना चाहते थे। परन्तु जिस माँकी आज्ञासे युधिष्ठिरने चारों भाइयोंसहित द्रौपदीसे विवाह किया था, उस माँकी आज्ञा होनेके कारण ही महाराज युधिष्ठिरकी युद्धमें प्रवृत्ति हुई थी<sup>२</sup> अर्थात् केवल माँके

१-यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव । तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ (महाभारत, उद्योग० १२७। २५)

२-माता कुन्ती बड़ी सहिष्णु थी। कष्टसे बचकर सुख, आराम, राज्य आदि चाहना—यह बात उसमें नहीं थी। वही एक ऐसी विलक्षण माता थी, जिसने भगवान्से विपत्तिका ही वरदान माँगा था। उसमें सुख-लोलुपता नहीं थी। परन्तु उसके मनमें दो बातोंको लेकर बड़ा दुःख था। पहली बात, राज्यके लिये कौरव-पाण्डव आपसमें लड़ते, चाहे जो करते, पर मेरी प्यारी पुत्रवधू द्रौपदीको इन दुर्योधनादि दुष्टोंने सभामें नग्न करना चाहा, अपमानित करना चाहा—ऐसी घृणित चेष्टा करना मनुष्यता नहीं है। यह बात माता कुन्तीको बहुत बुरी लगी।

आज्ञा-पालनरूप धर्मसे ही युधिष्ठिर युद्धकी इच्छावाले हुए हैं। तात्पर्य है कि दुर्योधन आदि तो राज्यको लेकर ही युयुत्सु थे, पर पाण्डव धर्मको लेकर ही युयुत्सु बने थे।

‘मामका: पाण्डवाश्चैव’—पाण्डव धृतराष्ट्रको (अपने पिताके बड़े भाई होनेसे) पिताके समान समझते थे और उनकी आज्ञाका पालन करते थे। धृतराष्ट्रके द्वारा अनुचित आज्ञा देनेपर भी पाण्डव उचित-अनुचितका विचार न करके उनकी आज्ञाका पालन करते थे। अतः यहाँ ‘मामका:’ पदके अन्तर्गत कौरव<sup>१</sup> और पाण्डव दोनों आ जाते हैं। फिर भी ‘पाण्डवा:’ पद अलग देनेका तात्पर्य है कि धृतराष्ट्रका अपने पुत्रोंमें तथा पाण्डुपुत्रोंमें समान भाव नहीं था। उनमें पक्षपात था, अपने पुत्रोंके प्रति मोह था। वे दुर्योधन आदिको तो अपना मानते थे, पर पाण्डवोंको अपना नहीं मानते थे।<sup>२</sup> इस कारण उन्होंने अपने पुत्रोंके लिये ‘मामका:’ और पाण्डुपुत्रोंके लिये ‘पाण्डवा:’ पदका प्रयोग किया है; क्योंकि जो भाव भीतर होते हैं, वे ही प्रायः वाणीसे बाहर निकलते हैं। इस द्वैधीभावके कारण ही धृतराष्ट्रको अपने कुलके संहारका दुःख भोगना पड़ा। इससे मनुष्यमात्रको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि वह अपने घरोंमें, मुहल्लोंमें, गाँवोंमें, प्रान्तोंमें, देशोंमें, सम्प्रदायोंमें द्वैधीभाव अर्थात् ये अपने हैं, ये दूसरे हैं—ऐसा भाव न रखे। कारण कि द्वैधीभावसे आपसमें प्रेम, स्नेह नहीं होता, प्रत्युत कलह होती है।

यहाँ ‘पाण्डवा:’ पदके साथ ‘एव’ पद देनेका तात्पर्य है कि पाण्डव तो बड़े धर्मात्मा हैं; अतः उन्हें युद्ध नहीं करना चाहिये था। परन्तु वे भी युद्धके लिये रणभूमिमें आ गये तो वहाँ आकर उन्होंने क्या किया ?

[‘मामका:’ और ‘पाण्डवा:’<sup>३</sup>—इनमेंसे पहले ‘मामका:’ पदका उत्तर संजय आगेके (दूसरे) श्लोकसे तेरहवें श्लोकतक देंगे कि आपके पुत्र दुर्योधनने पाण्डवोंकी सेनाको देखकर द्रोणाचार्यके मनमें पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा करनेके लिये उनके पास जाकर पाण्डवोंके मुख्य-मुख्य सेनापतियोंके नाम लिये। उसके बाद दुर्योधनने अपनी सेनाके मुख्य-मुख्य योद्धाओंके नाम लेकर उनके रण-कौशल आदिकी प्रशंसा की। दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये भीष्मजीने जोरसे शंख बजाया। उसको सुनकर कौरव-सेनामें शंख आदि बाजे बज उठे। फिर चौदहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक ‘पाण्डवा:’ पदका उत्तर देंगे कि रथमें बैठे हुए पाण्डवपक्षीय भगवान् श्रीकृष्णने शंख बजाया। उसके बाद अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव आदिने अपने-अपने शंख बजाये, जिससे दुर्योधनकी सेनाका हृदय दहल गया। उसके बाद भी संजय पाण्डवोंकी बात कहते-कहते बीसवें श्लोकसे श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादका प्रसंग आरम्भ कर देंगे।]

‘किमकुर्वत’—‘किम्’ शब्दके तीन अर्थ होते हैं—विकल्प, निन्दा (आक्षेप) और प्रश्न।

युद्ध हुआ कि नहीं ? इस तरहका विकल्प तो यहाँ लिया नहीं जा सकता; क्योंकि दस दिनतक युद्ध हो चुका है, और भीष्मजीको रथसे गिरा देनेके बाद संजय हस्तिनापुर आकर धृतराष्ट्रको वहाँकी घटना सुना रहे हैं।

‘मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने यह क्या किया, जो कि युद्ध कर बैठे! उनको युद्ध नहीं करना चाहिये था’—ऐसी निन्दा या आक्षेप भी यहाँ नहीं लिया जा सकता; क्योंकि युद्ध तो

दूसरी बात, भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर आये तो दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, शकुनि आदिने भगवान्को पकड़कर कैद करना चाहा। इस बातको सुनकर कुन्तीके मनमें यह विचार हुआ कि अब इन दुष्टोंको जल्दी ही खत्म करना चाहिये। कारण कि इनके जीते रहनेसे इनके पाप बढ़ते ही चले जायँगे, जिससे इनका बहुत नुकसान होगा। इन्हीं दो कारणोंसे माता कुन्तीने पाण्डवोंको युद्धके लिये आज्ञा दी थी।

१-यद्यपि ‘कौरव’ शब्दके अन्तर्गत धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन आदि और पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर आदि सभी आ जाते हैं, तथापि इस श्लोकमें धृतराष्ट्रने युधिष्ठिर आदिके लिये ‘पाण्डव’ शब्दका प्रयोग किया है। अतः व्याख्यामें ‘कौरव’ शब्द दुर्योधन आदिके लिये ही दिया गया है।

२-धृतराष्ट्रके मनमें द्वैधीभाव था कि दुर्योधन आदि मेरे पुत्र हैं और युधिष्ठिर आदि मेरे पुत्र नहीं हैं, प्रत्युत पाण्डुके पुत्र हैं। इस भावके कारण दुर्योधनका भीमको विष खिलाकर जलमें फेंक देना, लाक्षागृहमें पाण्डवोंको जलानेका प्रयत्न करना, युधिष्ठिरके साथ छलपूर्वक जुआ खेलना, पाण्डवोंका नाश करनेके लिये सेना लेकर वनमें जाना आदि कार्योंके करनेमें दुर्योधनको धृतराष्ट्रने कभी मना नहीं किया। कारण कि उनके भीतर यही भाव था कि अगर किसी तरह पाण्डवोंका नाश हो जाय, तो मेरे बेटोंका राज्य सुरक्षित रहेगा।

३-यहाँ आये ‘मामका:’ और ‘पाण्डवा:’ का अलग-अलग वर्णन करनेकी दृष्टिसे ही आगे संजयके वचनोंमें ‘दुर्योधन:’ ( १। २ ) और ‘पाण्डव:’ ( १। १४ ) शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

चल ही रहा था और धृतराष्ट्रके भीतर भी आक्षेपपूर्वक पूछनेका भाव नहीं था।

यहाँ 'किम्' शब्दका अर्थ प्रश्न लेना ही ठीक बैठता

है। धृतराष्ट्र संजयसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी छोटी-बड़ी सब घटनाओंको अनुक्रमसे विस्तारपूर्वक ठीक-ठीक जाननेके लिये ही प्रश्न कर रहे हैं।

**परिशिष्ट भाव—**'मेरे पुत्र ( मामकाः ) और 'पाण्डुके पुत्र' ( पाण्डवाः )—इस मतभेदसे ही राग-द्वेष पैदा हुए, जिससे लड़ाई हुई, हलचल हुई। धृतराष्ट्रके भीतर पैदा हुए राग-द्वेषका फल यह हुआ कि सौ-के-सौ कौरव मारे गये, पर पाण्डव एक भी नहीं मारा गया!

जैसे दही बिलोते हैं तो उसमें हलचल पैदा होती है, जिससे मक्खन निकलता है, ऐसे ही 'मामकाः' और 'पाण्डवाः' के भेदसे पैदा हुई हलचलसे अर्जुनके मनमें कल्याणकी अभिलाषा जाग्रत हुई, जिससे भगवद्गीतारूपी मक्खन निकला!

तात्पर्य यह हुआ कि धृतराष्ट्रके मनमें होनेवाली हलचलसे लड़ाई पैदा हुई और अर्जुनके मनमें होनेवाली हलचलसे गीता प्रकट हुई!

सम्बन्ध—धृतराष्ट्रके प्रश्नका उत्तर संजय आगेके श्लोकसे देना आरम्भ करते हैं।

सञ्जय उवाच

**दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।  
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥**

संजय बोले—

तदा = उस समय  
व्यूढम् = वज्रव्यूहसे  
खड़ी हुई  
पाण्डवानीकम् = पाण्डव-सेनाको

दृष्ट्वा = देखकर  
तु = और  
आचार्यम् = द्रोणाचार्यके  
उपसङ्गम्य = पास जाकर

राजा = राजा  
दुर्योधनः = दुर्योधन (यह)  
वचनम् = वचन  
अब्रवीत् = बोला।

**व्याख्या—**'तदा'—जिस समय दोनों सेनाएँ युद्धके लिये खड़ी हुई थीं, उस समयकी बात संजय यहाँ 'तदा' पदसे कहते हैं। कारण कि धृतराष्ट्रका प्रश्न 'युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया'—इस विषयको सुननेके लिये ही है।

**'दृष्ट्वा' पाण्डवानीकं व्यूढम्**—पाण्डवोंकी वज्रव्यूह-से खड़ी सेनाको देखनेका तात्पर्य है कि पाण्डवोंकी सेना बड़ी ही सुचारुरूपसे और एक ही भावसे खड़ी थी अर्थात् उनके सैनिकोंमें दो भाव नहीं थे, मतभेद नहीं था<sup>१</sup>। उनके पक्षमें धर्म और भगवान् श्रीकृष्ण थे। जिसके पक्षमें धर्म और भगवान् होते हैं, उसका दूसरोंपर बड़ा असर

पड़ता है। इसलिये संख्यामें कम होनेपर भी पाण्डवोंकी सेनाका तेज (प्रभाव) था और उसका दूसरोंपर बड़ा असर पड़ता था। अतः पाण्डव-सेनाका दुर्योधनपर भी बड़ा असर पड़ा, जिससे वह द्रोणाचार्यके पास जाकर नीतियुक्त गंभीर वचन बोलता है।

**'राजा दुर्योधनः'**—दुर्योधनको राजा कहनेका तात्पर्य है कि धृतराष्ट्रका सबसे अधिक अपनापन (मोह) दुर्योधनमें ही था। परम्पराकी दृष्टिसे भी युवराज दुर्योधन ही था। राज्यके सब कार्योंकी देखभाल दुर्योधन ही करता था। धृतराष्ट्र तो नाममात्रके राजा थे। युद्ध होनेमें भी मुख्य हेतु दुर्योधन ही था। इन सभी कारणोंसे संजयने दुर्योधनके लिये

१-इस अध्यायमें तीन बार 'दृष्ट्वा' (देखकर) पदका प्रयोग हुआ है—पाण्डव-सेनाको देखकर दुर्योधनका द्रोणाचार्यके पास जाना (१।२); कौरव-सेनाको देखकर अर्जुनका धनुषको उठाना (१।२०); और अपने स्वजनों- (कुटुम्बियों-) को देखकर अर्जुनका मोहाविष्ट होना (१।२८)। इन तीनोंमेंसे दो 'दृष्ट्वा' तो आपसमें सेना देखनेके लिये आये हैं और एक 'दृष्ट्वा' स्वजनोंको देखनेके लिये आया है, जिससे अर्जुनका भाव बदल जाता है।

२-कौरव-सेनामें मतभेद था; क्योंकि दुर्योधन, दुःशासन आदि तो युद्ध करना चाहते थे, पर भीष्म, द्रोण, विकर्ण आदि युद्ध नहीं करना चाहते थे। यह नियम है कि जहाँ आपसमें मतभेद होता है, वहाँ तेज (प्रभाव) नहीं रहता—

काँच कटोरो कुम्भ पय मोती मित्त अवास। ताल घाव तिरिया कटक फाटा करे बिनास ॥

‘राजा’ शब्दका प्रयोग किया है।

‘आचार्यमुपसङ्गम्य’—द्रोणाचार्यके पास जानेमें मुख्यतः तीन कारण मालूम देते हैं—

(१) अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये अर्थात् द्रोणाचार्यके भीतर पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा करके उनको अपने पक्षमें विशेषतासे करनेके लिये दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास गया।

(२) व्यवहारमें गुरुके नाते आदर देनेके लिये भी द्रोणाचार्यके पास जाना उचित था।

(३) मुख्य व्यक्तिका सेनामें यथास्थान खड़े रहना बहुत आवश्यक होता है, अन्यथा व्यवस्था बिगड़ जाती है। इसलिये दुर्योधनका द्रोणाचार्यके पास खुद जाना उचित ही था।

यहाँ शंका हो सकती है कि दुर्योधनको तो पितामह भीष्मके पास जाना चाहिये था, जो कि सेनापति थे। पर दुर्योधन गुरु द्रोणाचार्यके पास ही क्यों गया? इसका समाधान यह है कि द्रोण और भीष्म—दोनों उभय-पक्षपाती थे अर्थात् वे कौरव और पाण्डव—दोनोंका ही पक्ष रखते थे। उन दोनोंमें भी द्रोणाचार्यको ज्यादा राजी करना था; क्योंकि द्रोणाचार्यके साथ दुर्योधनका गुरुके नाते तो स्नेह था, पर कुटुम्बके नाते स्नेह नहीं था; और अर्जुनपर द्रोणाचार्यकी विशेष कृपा थी। अतः उनको राजी

करनेके लिये दुर्योधनका उनके पास जाना ही उचित था। व्यवहारमें भी यह देखा जाता है कि जिसके साथ स्नेह नहीं है, उससे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये मनुष्य उसको ज्यादा आदर देकर राजी करता है।

दुर्योधनके मनमें यह विश्वास था कि भीष्मजी तो हमारे दादाजी ही हैं; अतः उनके पास न जाऊँ तो भी कोई बात नहीं है। न जानेसे अगर वे नाराज भी हो जायँगे तो मैं किसी तरहसे उनको राजी कर लूँगा। कारण कि पितामह भीष्मके साथ दुर्योधनका कौटुम्बिक सम्बन्ध और स्नेह था ही, भीष्मका भी उसके साथ कौटुम्बिक सम्बन्ध और स्नेह था। इसलिये भीष्मजीने दुर्योधनको राजी करनेके लिये जोरसे शंख बजाया है (पहले अध्यायका बारहवाँ श्लोक)।

‘वचनमब्रवीत्’—यहाँ ‘अब्रवीत्’ कहना ही पर्याप्त था; क्योंकि ‘अब्रवीत्’ क्रियाके अन्तर्गत ही ‘वचनम्’ आ जाता है अर्थात् दुर्योधन बोलेगा, तो वचन ही बोलेगा। इसलिये यहाँ ‘वचनम्’ शब्दकी आवश्यकता नहीं थी। फिर भी ‘वचनम्’ शब्द देनेका तात्पर्य है कि दुर्योधन नीतियुक्त गम्भीर वचन बोलता है, जिससे द्रोणाचार्यके मनमें पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा हो जाय और वे हमारे ही पक्षमें रहते हुए ठीक तरहसे युद्ध करें। जिससे हमारी विजय हो जाय, हमारा स्वार्थ सिद्ध हो जाय।

सम्बन्ध—द्रोणाचार्यके पास जाकर दुर्योधन क्या वचन बोला—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

आचार्य = हे आचार्य!  
तव = आपके  
धीमता = बुद्धिमान्  
शिष्येण = शिष्य  
द्रुपदपुत्रेण = द्रुपदपुत्र

व्यूढाम्

धृष्टद्युम्नके  
द्वारा  
= व्यूहरचनासे  
खड़ी  
की हुई

पाण्डुपुत्राणाम् = पाण्डवोंकी  
एताम् = इस  
महतीम् = बड़ी भारी  
चमूम् = सेनाको  
पश्य = देखिये!

व्याख्या—‘आचार्य’—द्रोणके लिये ‘आचार्य’ सम्बोधन देनेमें दुर्योधनका यह भाव मालूम देता है कि आप हम सबके—कौरवों और पाण्डवोंके आचार्य हैं। शस्त्रविद्या सिखानेवाले होनेसे आप सबके गुरु हैं। इसलिये आपके मनमें किसीका पक्ष या आग्रह नहीं होना चाहिये।

‘तव शिष्येण धीमता’—इन पदोंका प्रयोग करनेमें

दुर्योधनका भाव यह है कि आप इतने सरल हैं कि अपने मारनेके लिये पैदा होनेवाले धृष्टद्युम्नको भी आपने अस्त्र-शस्त्रकी विद्या सिखायी है; और वह आपका शिष्य धृष्टद्युम्न इतना बुद्धिमान् है कि उसने आपको मारनेके लिये आपसे ही अस्त्र-शस्त्रकी विद्या सीखी है।

‘द्रुपदपुत्रेण’—यह पद कहनेका आशय है कि आपको

मारनेके उद्देश्यको लेकर ही द्रुपदने याज और उपयाज नामक ब्राह्मणोंसे यज्ञ कराया, जिससे धृष्टद्युम्न पैदा हुआ। वही यह द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न आपके सामने (प्रतिपक्षमें) सेनापतिके रूपमें खड़ा है।

यद्यपि दुर्योधन यहाँ 'द्रुपदपुत्र'के स्थानपर 'धृष्टद्युम्न' भी कह सकता था, तथापि द्रोणाचार्यके साथ द्रुपद जो वैर रखता था, उस वैरभावको याद दिलानेके लिये दुर्योधन यहाँ 'द्रुपदपुत्रेण' शब्दका प्रयोग करता है कि अब वैर निकालनेका अच्छा मौका है।

'पाण्डुपुत्राणाम् एतां व्यूढां महतीं चमूं पश्य'— द्रुपदपुत्रके द्वारा पाण्डवोंकी इस व्यूहाकार खड़ी हुई बड़ी भारी सेनाको देखिये। तात्पर्य है कि जिन पाण्डवोंपर आप स्नेह रखते हैं, उन्हीं पाण्डवोंने आपके प्रतिपक्षमें खास आपको मारनेवाले द्रुपदपुत्रको सेनापति बनाकर व्यूह-रचना करनेका अधिकार दिया है। अगर पाण्डव आपसे स्नेह रखते तो कम-से-कम आपको मारनेवालेको तो अपनी सेनाका मुख्य सेनापति नहीं बनाते, इतना अधिकार तो नहीं देते। परन्तु सब कुछ जानते हुए भी उन्होंने उसीको सेनापति बनाया है।

यद्यपि कौरवोंकी अपेक्षा पाण्डवोंकी सेना संख्यामें कम थी अर्थात् कौरवोंकी सेना ग्यारह अक्षौहिणी\* और पाण्डवोंकी सेना सात अक्षौहिणी थी, तथापि दुर्योधन पाण्डवोंकी सेनाको बड़ी भारी बता रहा है। पाण्डवोंकी सेनाको बड़ी भारी कहनेमें दो भाव मालूम देते हैं—

(१) पाण्डवोंकी सेना ऐसे ढंगसे व्यूहाकार खड़ी हुई थी, जिससे दुर्योधनको थोड़ी सेना भी बहुत बड़ी दीख रही थी और (२) पाण्डव-सेनामें सब-के-सब योद्धा एक मतके थे। इस एकताके कारण पाण्डवोंकी थोड़ी सेना भी बलमें, उत्साहमें बड़ी मालूम दे रही थी। ऐसी सेनाको दिखाकर दुर्योधन द्रोणाचार्यसे यह कहना चाहता है कि युद्ध करते समय आप इस सेनाको सामान्य और छोटी न समझें। आप विशेष बल लगाकर सावधानीसे युद्ध करें। पाण्डवोंका सेनापति है तो आपका शिष्य द्रुपदपुत्र ही; अतः उसपर विजय करना आपके लिये कौन-सी बड़ी बात है!

'एतां पश्य' कहनेका तात्पर्य है कि यह पाण्डव-सेना युद्धके लिये तैयार होकर सामने खड़ी है। अतः हमलोग इस सेनापर किस तरहसे विजय कर सकते हैं— इस विषयमें आपको जल्दी-से-जल्दी निर्णय लेना चाहिये।

सम्बन्ध—द्रोणाचार्यसे पाण्डवोंकी सेना देखनेके लिये प्रार्थना करके अब दुर्योधन उन्हें पाण्डव-सेनाके महारथियोंको दिखाता है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।

पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अत्र	= यहाँ (पाण्डवों- की सेनामें)	च	= तथा (जो)	विराटः	= राजा विराट
शूराः	= बड़े-बड़े शूरावीर हैं,	युधि	= युद्धमें	च	= और
महेष्वासाः	= (जिनके) बहुत बड़े-बड़े	भीमार्जुनसमाः	= भीम और अर्जुनके समान हैं। (उनमें)	महारथः	= महारथी
		युयुधानः	= युयुधान	द्रुपदः	= द्रुपद (भी हैं।)
				धृष्टकेतुः	= धृष्टकेतु

\* एक अक्षौहिणी सेनामें २१,८७० रथ, २१,८७० हाथी, ६५,६१० घोड़े और १,०९,३५० पैदल सैनिक होते हैं।

( महाभारत, आदि० २। २३—२६ )

च	= और	दोनों भाई)	उत्तमौजा:	= उत्तमौजा	
चेकितानः	= चेकितान	च	= तथा	( भी हैं ।)	
च	= तथा	नरपुङ्गवः	= मनुष्योंमें श्रेष्ठ	सौभद्रः	= सुभद्रापुत्र अभिमन्यु
वीर्यवान्	= पराक्रमी	शैब्यः	= शैब्य ( भी हैं ।)	च	= और
काशिराजः	= काशिराज ( भी हैं ।)	विक्रान्तः	= पराक्रमी	द्रौपदेयाः	= द्रौपदीके पाँचों पुत्र
पुरुजित्	= पुरुजित्	युधामन्युः	= युधामन्यु	( भी हैं ।)	
च	= और	च	= और	सर्वे, एव	= (ये) सब-के-सब
कुन्तिभोजः	= कुन्तिभोज (—ये	वीर्यवान्	= पराक्रमी	महारथाः	= महारथी हैं ।

व्याख्या—‘अत्र शूरा महेष्वास भीमार्जुनसमा युधि’—जिनसे बाण चलाये जाते हैं, फेंके जाते हैं, उनका नाम ‘इष्वास’ अर्थात् धनुष है। ऐसे बड़े-बड़े इष्वास (धनुष) जिनके पास हैं, वे सभी ‘महेष्वास’ हैं। तात्पर्य है कि बड़े धनुषोंपर बाण चढ़ाने एवं प्रत्यंचा खींचनेमें बहुत बल लगता है। जोरसे खींचकर छोड़ा गया बाण विशेष मार करता है। ऐसे बड़े-बड़े धनुष पासमें होनेके कारण ये सभी बहुत बलवान् और शूरवीर हैं। ये मामूली योद्धा नहीं हैं। युद्धमें ये भीम और अर्जुनके समान हैं अर्थात् बलमें ये भीमके समान और अस्त्र-शस्त्रकी कलामें ये अर्जुनके समान हैं।

‘युयुधानः’—युयुधान-(सात्यकि-) ने अर्जुनसे अस्त्र-शस्त्रकी विद्या सीखी थी। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा दुर्योधनको नारायणी सेना देनेपर भी वह कृतज्ञ होकर अर्जुनके पक्षमें ही रहा, दुर्योधनके पक्षमें नहीं गया। द्रोणाचार्यके मनमें अर्जुनके प्रति द्वेषभाव पैदा करनेके लिये दुर्योधन महारथियोंमें सबसे पहले अर्जुनके शिष्य युयुधानका नाम लेता है। तात्पर्य है कि इस अर्जुनको तो देखिये! इसने आपसे ही अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखा है और आपने अर्जुनको यह वरदान भी दिया है कि संसारमें तुम्हारे समान और कोई धनुर्धर न हो, ऐसा प्रयत्न करूँगा\*। इस तरह आपने तो अपने शिष्य अर्जुनपर इतना स्नेह रखा है, पर वह कृतघ्न होकर आपके विपक्षमें लड़नेके लिये खड़ा है, जबकि अर्जुनका शिष्य युयुधान उसीके पक्षमें खड़ा है।

[युयुधान महाभारतके युद्धमें न मरकर यादवोंके आपसी युद्धमें मारे गये।]

‘विराटश्च’—जिसके कारण हमारे पक्षका वीर सुशर्मा अपमानित किया गया, आपको सम्मोहन-अस्त्रसे मोहित

होना पड़ा और हमलोगोंको भी जिसकी गायें छोड़कर युद्धसे भागना पड़ा, वह राजा विराट आपके प्रतिपक्षमें खड़ा है।

राजा विराटके साथ द्रोणाचार्यका ऐसा कोई वैरभाव या द्वेषभाव नहीं था; परन्तु दुर्योधन यह समझता है कि अगर युयुधानके बाद मैं द्रुपदका नाम लूँ तो द्रोणाचार्यके मनमें यह भाव आ सकता है कि दुर्योधन पाण्डवोंके विरोधमें मेरेको उकसाकर युद्धके लिये विशेषतासे प्रेरणा कर रहा है तथा मेरे मनमें पाण्डवोंके प्रति वैरभाव पैदा कर रहा है। इसलिये दुर्योधन द्रुपदके नामसे पहले विराटका नाम लेता है, जिससे द्रोणाचार्य मेरी चालाकी न समझ सकें और विशेषतासे युद्ध करें।

[राजा विराट उत्तर, श्वेत और शंख नामक तीनों पुत्रोंसहित महाभारत-युद्धमें मारे गये।]

‘द्रुपदश्च महारथः’—आपने तो द्रुपदको पहलेकी मित्रता याद दिलायी, पर उसने सभामें यह कहकर आपका अपमान किया कि मैं राजा हूँ और तुम भिक्षुक हो; अतः मेरी-तुम्हारी मित्रता कैसी? तथा वैरभावके कारण आपको मारनेके लिये पुत्र भी पैदा किया, वही महारथी द्रुपद आपसे लड़नेके लिये विपक्षमें खड़ा है।

[राजा द्रुपद युद्धमें द्रोणाचार्यके हाथसे मारे गये।]

‘धृष्टकेतुः’—यह धृष्टकेतु कितना मूर्ख है कि जिसके पिता शिशुपालको कृष्णने भरी सभामें चक्रसे मार डाला था, उसी कृष्णके पक्षमें यह लड़नेके लिये खड़ा है!

[धृष्टकेतु द्रोणाचार्यके हाथसे मारे गये।]

‘चेकितानः’—सब यादवसेना तो हमारी ओरसे लड़नेके लिये तैयार है और यह यादव चेकितान पाण्डवोंकी सेनामें खड़ा है!

\* प्रयत्निष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः। त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥

[चेकितान दुर्योधनके हाथसे मारे गये।]

‘काशिराजश्च वीर्यवान्’—यह काशिराज बड़ा ही शूरवीर और महारथी है। यह भी पाण्डवोंकी सेनामें खड़ा है। इसलिये आप सावधानीसे युद्ध करना; क्योंकि यह बड़ा पराक्रमी है।

[काशिराज महाभारत-युद्धमें मारे गये।]

‘पुरुजित्कुन्तिभोजश्च’—यद्यपि पुरुजित् और कुन्तिभोज—ये दोनों कुन्तीके भाई होनेसे हमारे और पाण्डवोंके मामा हैं, तथापि इनके मनमें पक्षपात होनेके कारण ये हमारे विपक्षमें युद्ध करनेके लिये खड़े हैं।

[पुरुजित् और कुन्तिभोज—दोनों ही युद्धमें द्रोणाचार्यके हाथसे मारे गये।]

‘शैब्यश्च नरपुङ्गवः’—यह शैब्य युधिष्ठिरका श्वशुर है। यह मनुष्योंमें श्रेष्ठ और बहुत बलवान् है। परिवारके नाते यह भी हमारा सम्बन्धी है। परन्तु यह पाण्डवोंके ही पक्षमें खड़ा है।

‘युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्’—पांचालदेशके बड़े बलवान् और वीर योद्धा युधामन्यु तथा उत्तमौजा मेरे वैरी अर्जुनके रथके पहियोंकी रक्षामें नियुक्त किये गये हैं। आप इनकी ओर भी नजर रखना।

[रातमें सोते हुए इन दोनोंको अश्वत्थामाने मार डाला।]

‘सौभद्रः’—यह कृष्णकी बहन सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु है। यह बहुत शूरवीर है। इसने गर्भमें ही चक्रव्यूह-भेदनकी विद्या सीखी है। अतः चक्रव्यूह-रचनाके समय आप इसका खयाल रखें।

[युद्धमें दुःशासनपुत्रके द्वारा अन्यायपूर्वक सिरपर गदाका प्रहार करनेसे अभिमन्यु मारे गये।]

‘द्रौपदेयाश्च’—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—इन पाँचोंके द्वारा द्रौपदीके गर्भसे क्रमशः प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन पैदा हुए हैं। इन पाँचोंको आप देख लीजिये। द्रौपदीने भरी सभामें मेरी हँसी उड़ाकर मेरे हृदयको जलाया है, उसीके इन पाँचों पुत्रोंको युद्धमें मारकर आप उसका बदला चुकायें।

[रातमें सोते हुए इन पाँचोंको अश्वत्थामाने मार डाला।]

‘सर्व एव महारथाः’—ये सब-के-सब महारथी हैं। जो शास्त्र और शस्त्रविद्या—दोनोंमें प्रवीण हैं और युद्धमें अकेले ही एक साथ दस हजार धनुर्धारी योद्धाओंका संचालन कर सकता है, उस वीर पुरुषको ‘महारथी’ कहते हैं\*। ऐसे बहुत-से महारथी पाण्डव-सेनामें खड़े हैं।

सम्बन्ध—द्रोणाचार्यके मनमें पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा करने और युद्धके लिये जोश दिलानेके लिये दुर्योधनने पाण्डव-सेनाकी विशेषता बतायी। दुर्योधनके मनमें विचार आया कि द्रोणाचार्य पाण्डवोंके पक्षपाती हैं ही; अतः वे पाण्डव-सेनाकी महत्ता सुनकर मेरेको यह कह सकते हैं कि जब पाण्डवोंकी सेनामें इतनी विशेषता है, तो उनके साथ तू सन्धि क्यों नहीं कर लेता? ऐसा विचार आते ही दुर्योधन आगेके तीन श्लोकोंमें अपनी सेनाकी विशेषता बताता है।

**अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।**

**नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥**

द्विजोत्तम = हे द्विजोत्तम!  
अस्माकम् = हमारे पक्षमें  
तु = भी  
ये = जो  
विशिष्टाः = मुख्य (हैं),

तान् = उनपर (भी आप)  
निबोध = ध्यान दीजिये।  
ते = आपको  
सञ्ज्ञार्थम् = याद दिलानेके लिये

मम = मेरी  
सैन्यस्य = सेनाके (जो)  
नायकाः = नायक हैं,  
तान् = उनको (मैं)  
ब्रवीमि = कहता हूँ।

व्याख्या—‘अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम’—दुर्योधन द्रोणाचार्यसे कहता है कि हे द्विजश्रेष्ठ! जैसे पाण्डवोंकी सेनामें श्रेष्ठ महारथी हैं, ऐसे ही हमारी सेनामें भी उनसे कम विशेषतावाले महारथी नहीं हैं, प्रत्युत उनकी सेनाके महारथियोंकी अपेक्षा ज्यादा ही विशेषता

रखनेवाले हैं। उनको भी आप समझ लीजिये।

तीसरे श्लोकमें ‘पश्य’ और यहाँ ‘निबोध’ क्रिया देनेका तात्पर्य है कि पाण्डवोंकी सेना तो सामने खड़ी है, इसलिये उसको देखनेके लिये दुर्योधन ‘पश्य’ (देखिये) क्रियाका प्रयोग करता है। परन्तु अपनी सेना सामने नहीं है अर्थात्

\* एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥



अपनी सेनाकी तरफ द्रोणाचार्यकी पीठ है, इसलिये उसको देखनेकी बात न कहकर उसपर ध्यान देनेके लिये दुर्योधन 'निबोध' ( ध्यान दीजिये ) क्रियाका प्रयोग करता है।

'नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते'—मेरी सेनामें भी जो विशिष्ट-विशिष्ट सेनापति हैं, सेनानायक हैं, महारथी हैं, मैं उनके नाम केवल आपको याद दिलानेके लिये, आपकी दृष्टि उधर खींचनेके लिये ही कह रहा हूँ।

'सञ्ज्ञार्थम्' पदका तात्पर्य है कि हमारे बहुत-से सेनानायक हैं, उनके नाम मैं कहाँतक कहूँ; इसलिये मैं उनका केवल संकेतमात्र करता हूँ; क्योंकि आप तो सबको जानते ही हैं।

इस श्लोकमें दुर्योधनका ऐसा भाव प्रतीत होता है कि हमारा पक्ष किसी भी तरह कमजोर नहीं है। परन्तु राजनीतिके अनुसार शत्रुपक्ष चाहे कितना ही कमजोर हो और अपना पक्ष चाहे कितना ही सबल हो, ऐसी अवस्थामें भी शत्रुपक्षको कमजोर नहीं समझना चाहिये और अपनेमें उपेक्षा, उदासीनता आदिकी भावना किंचिन्मात्र भी नहीं

आने देनी चाहिये। इसलिये सावधानीके लिये मैंने उनकी सेनाकी बात कही और अब अपनी सेनाकी बात कहता हूँ।

दूसरा भाव यह है कि पाण्डवोंकी सेनाको देखकर दुर्योधनपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसके मनमें कुछ भय भी हुआ। कारण कि संख्यामें कम होते हुए भी पाण्डव-सेनाके पक्षमें बहुत-से धर्मात्मा पुरुष थे और स्वयं भगवान् थे। जिस पक्षमें धर्म और भगवान् रहते हैं, उसका सबपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पापी-से-पापी, दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्तिपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। इतना ही नहीं, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदिपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। कारण कि धर्म और भगवान् नित्य हैं। कितनी ही ऊँची-से-ऊँची भौतिक शक्तियाँ क्यों न हों, हैं वे सभी अनित्य ही। इसलिये दुर्योधनपर पाण्डव-सेनाका बड़ा असर पड़ा। परन्तु उसके भीतर भौतिक बलका विश्वास मुख्य होनेसे वह द्रोणाचार्यको विश्वास दिलानेके लिये कहता है कि हमारे पक्षमें जितनी विशेषता है, उतनी पाण्डवोंकी सेनामें नहीं है। अतः हम उनपर सहज ही विजय कर सकते हैं।

## भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।

### अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

भवान्	= आप (द्रोणाचार्य)	कर्णः	= कर्ण	एव	= ही
च	= और	च	= और	अश्वत्थामा	= अश्वत्थामा,
भीष्मः	= पितामह भीष्म	समितिञ्जयः	= संग्रामविजयी	विकर्णः	= विकर्ण
च	= तथा	कृपः	= कृपाचार्य	च	= और
		च	= तथा	सौमदत्तिः	= सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ।
		तथा	= वैसे		

व्याख्या—'भवान् भीष्मश्च'—आप और पितामह भीष्म—दोनों ही बहुत विशेष पुरुष हैं। आप दोनोंके समकक्ष संसारमें तीसरा कोई भी नहीं है। अगर आप दोनोंमेंसे कोई एक भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करे, तो देवता, यक्ष, राक्षस, मनुष्य आदिमें ऐसा कोई भी नहीं है, जो कि आपके सामने टिक सके। आप दोनोंके पराक्रमकी बात जगत्में प्रसिद्ध ही है। पितामह भीष्म तो आबाल ब्रह्मचारी हैं, और इच्छामृत्यु हैं अर्थात् उनकी इच्छाके बिना उन्हें कोई मार ही नहीं सकता।

[महाभारत-युद्धमें द्रोणाचार्य धृष्टद्युम्नके द्वारा मारे गये

और पितामह भीष्मने अपनी इच्छासे ही सूर्यके उत्तरायण होनेपर अपने प्राणोंका त्याग कर दिया।]

'कर्णश्च'—कर्ण तो बहुत ही शूरवीर है। मुझे तो ऐसा विश्वास है कि वह अकेला ही पाण्डव-सेनापर विजय प्राप्त कर सकता है। उसके सामने अर्जुन भी कुछ नहीं कर सकता। ऐसा वह कर्ण भी हमारे पक्षमें है।

[कर्ण महाभारत-युद्धमें अर्जुनके द्वारा मारे गये।]

'कृपश्च समितिञ्जयः'—कृपाचार्यकी तो बात ही क्या है! वे तो चिरंजीवी हैं,\* हमारे परम हितैषी हैं और सम्पूर्ण पाण्डव-सेनापर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

\* अश्वत्थामा, बलि, वेदव्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य, परशुराम और मार्कण्डेय—ये आठ चिरंजीवी हैं। शास्त्रमें लिखा है—

अश्वत्थामा बलिव्यासो हनुमांश्च विभीषणः । कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥ ( पद्मपुराण ४९। ७ )

यद्यपि यहाँ द्रोणाचार्य और भीष्मके बाद ही दुर्योधनको कृपाचार्यका नाम लेना चाहिये था; परन्तु दुर्योधनको कर्णपर जितना विश्वास था, उतना कृपाचार्यपर नहीं था। इसलिये कर्णका नाम तो भीतरसे बीचमें ही निकल पड़ा। द्रोणाचार्य और भीष्म कहीं कृपाचार्यका अपमान न समझ लें, इसलिये दुर्योधन कृपाचार्यको 'संग्रामविजयी' विशेषण देकर उनको प्रसन्न करना चाहता है।

'अश्वत्थामा'—ये भी चिरंजीवी हैं और आपके ही पुत्र हैं। ये बड़े ही शूरवीर हैं। इन्होंने आपसे ही अस्त्र-शस्त्रकी विद्या सीखी है। अस्त्र-शस्त्रकी कलामें ये बड़े चतुर हैं।

'विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च'—आप यह न समझें कि केवल पाण्डव ही धर्मात्मा हैं, हमारे पक्षमें भी मेरा भाई विकर्ण बड़ा धर्मात्मा और शूरवीर है। ऐसे ही

हमारे प्रपितामह शान्तनुके भाई बाह्लीकके पौत्र तथा सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा भी बड़े धर्मात्मा हैं। इन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले अनेक यज्ञ किये हैं। ये बड़े शूरवीर और महारथी हैं।

[युद्धमें विकर्ण भीमके द्वारा और भूरिश्रवा सात्यकिके द्वारा मारे गये।]

यहाँ इन शूरवीरोंके नाम लेनेमें दुर्योधनका यह भाव मालूम देता है कि हे आचार्य! हमारी सेनामें आप, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य आदि जैसे महान् पराक्रमी शूरवीर हैं, ऐसे पाण्डवोंकी सेनामें देखनेमें नहीं आते। हमारी सेनामें कृपाचार्य और अश्वत्थामा—ये दो चिरंजीवी हैं, जबकि पाण्डवोंकी सेनामें ऐसा एक भी नहीं है। हमारी सेनामें धर्मात्माओंकी भी कमी नहीं है। इसलिये हमारे लिये डरनेकी कोई बात नहीं है।

**अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।**

**नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १ ॥**

अन्ये	= इनके अतिरिक्त	इच्छाका भी त्याग	वाले हैं
बहवः	= बहुत-से	कर दिया है,	(तथा जो)
शूराः	= शूरवीर हैं, (जिन्होंने)	च = और	सर्वे = सब-के-सब
मदर्थे	= मेरे लिये	नानाशस्त्रप्रहरणाः = जो अनेक	युद्धविशारदाः = युद्धकलामें
त्यक्तजीविताः	= अपने जीनेकी	प्रकारके अस्त्र- शस्त्रोंको चलाने-	अत्यन्त चतुर हैं।

व्याख्या—'अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्त-जीविताः'—मैंने अभीतक अपनी सेनाके जितने शूरवीरोंके नाम लिये हैं, उनके अतिरिक्त भी हमारी सेनामें बाह्लीक, शल्य, भगदत्त, जयद्रथ आदि बहुत-से शूरवीर महारथी हैं, जो मेरी भलाईके लिये, मेरी ओरसे लड़नेके लिये अपने जीनेकी इच्छाका त्याग करके यहाँ आये हैं। वे मेरी विजयके लिये मर भले ही जायँ, पर युद्धसे हटेंगे नहीं। उनकी मैं आपके सामने क्या कृतज्ञता प्रकट करूँ ?

'नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः'—ये सभी लोग हाथमें रखकर प्रहार करनेवाले तलवार, गदा, त्रिशूल आदि नाना प्रकारके शस्त्रोंकी कलामें निपुण हैं; और हाथसे फेंककर प्रहार करनेवाले बाण, तोमर, शक्ति आदि अस्त्रोंकी कलामें भी निपुण हैं। युद्ध कैसे करना चाहिये; किस तरहसे, किस पैतरेसे और किस युक्तिसे युद्ध करना चाहिये; सेनाको किस तरह खड़ी करनी चाहिये आदि युद्धकी कलाओंमें भी ये बड़े निपुण हैं, कुशल हैं।

सम्बन्ध—दुर्योधनकी बातें सुनकर जब द्रोणाचार्य कुछ भी नहीं बोले, तब अपनी चालाकी न चल सकनेसे दुर्योधनके मनमें क्या विचार आता है—इसको संजय आगेके श्लोकमें कहते हैं\*।

सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम् । जीवेद्वर्षशतं सोऽपि सर्वव्याधिविबर्जितः ॥

\* संजय व्यासप्रदत्त दिव्य दृष्टिसे सैनिकोंके मनमें आयी बातको भी जान लेनेमें समर्थ थे—

प्रकाशं वाप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि । मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति सञ्जयः ॥

( महाभारत, भीष्म० २। ११ )

## अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् । पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

द्रोणाचार्यको चुप देखकर दुर्योधनके मनमें विचार हुआ कि वास्तवमें—

अस्माकम्	= हमारी	भीष्माभिरक्षितम्	= उसके संरक्षक	विजय करनेमें)
तत्	= वह		( उभयपक्षपाती )	पर्याप्तम्
बलम्	= सेना ( पाण्डवोंपर		भीष्म हैं ।	= पर्याप्त है,
	विजय करनेमें)	तु	= परन्तु	समर्थ है;
अपर्याप्तम्	= अपर्याप्त है,	एतेषाम्	= इन पाण्डवोंकी	( क्योंकि )
	असमर्थ है;	इदम्	= यह	भीमाभिरक्षितम्
	( क्योंकि )	बलम्	= सेना ( हमपर	= इसके संरक्षक
				( निजसेनापक्षपाती )
				भीमसेन हैं ।

व्याख्या—‘अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्’—अधर्म—अन्यायके कारण दुर्योधनके मनमें भय होनेसे वह अपनी सेनाके विषयमें सोचता है कि हमारी सेना बड़ी होनेपर भी अर्थात् पाण्डवोंकी अपेक्षा चार अक्षौहिणी अधिक होनेपर भी पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करनेमें है तो असमर्थ ही! कारण कि हमारी सेनामें मतभेद है। उसमें इतनी एकता (संगठन), निर्भयता, निःसंकोचता नहीं है, जितनी कि पाण्डवोंकी सेनामें है। हमारी सेनाके मुख्य संरक्षक पितामह भीष्म उभयपक्षपाती हैं अर्थात् उनके भीतर कौरव और पाण्डव—दोनों सेनाओंका पक्ष है। वे कृष्णके बड़े भक्त हैं। उनके हृदयमें युधिष्ठिरका बड़ा आदर है। अर्जुनपर भी उनका बड़ा स्नेह है। इसलिये वे हमारे पक्षमें रहते हुए भी भीतरसे पाण्डवोंका भला चाहते हैं। वे ही भीष्म हमारी सेनाके मुख्य सेनापति हैं। ऐसी दशामें हमारी सेना पाण्डवोंके मुकाबलेमें कैसे समर्थ हो सकती है? नहीं हो सकती।

‘पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्’—परन्तु यह जो पाण्डवोंकी सेना है, यह हमारेपर विजय करनेमें समर्थ है। कारण कि इनकी सेनामें मतभेद नहीं है, प्रत्युत सभी एकमत होकर संगठित हैं। इनकी सेनाका संरक्षक बलवान् भीमसेन है, जो कि बचपनसे ही मेरेको हराता आया है। यह अकेला ही मेरेसहित सौ भाइयोंको मारनेकी प्रतिज्ञा कर चुका है अर्थात् यह हमारा नाश करनेपर तुला हुआ है! इसका शरीर वज्रके समान मजबूत है। इसको मैंने

जहर पिलाया था, तो भी यह मरा नहीं। ऐसा यह भीमसेन पाण्डवोंकी सेनाका संरक्षक है, इसलिये यह सेना वास्तवमें समर्थ है, पूर्ण है।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि दुर्योधनने अपनी सेनाके संरक्षकके लिये भीष्मजीका नाम लिया, जो कि सेनापतिके पदपर नियुक्त हैं। परन्तु पाण्डव-सेनाके संरक्षकके लिये भीमसेनका नाम लिया, जो कि सेनापति नहीं हैं। इसका समाधान यह है कि दुर्योधन इस समय सेनापतियोंकी बात नहीं सोच रहा है; किन्तु दोनों सेनाओंकी शक्तिके विषयमें सोच रहा है कि किस सेनाकी शक्ति अधिक है? दुर्योधनपर आरम्भसे ही भीमसेनकी शक्तिका, बलवत्ताका अधिक प्रभाव पड़ा हुआ है। अतः वह पाण्डव-सेनाके संरक्षकके लिये भीमसेनका ही नाम लेता है।

### विशेष बात

अर्जुन कौरव-सेनाको देखकर किसीके पास न जाकर हाथमें धनुष उठाते हैं (गीता—पहले अध्यायका बीसवाँ श्लोक), पर दुर्योधन पाण्डवसेनाको देखकर द्रोणाचार्यके पास जाता है और उनसे पाण्डवोंकी व्यूहरचनायुक्त सेनाको देखनेके लिये कहता है। इससे सिद्ध होता है कि दुर्योधनके हृदयमें भय बैठा हुआ है\*। भीतरमें भय होनेपर भी वह चालाकीसे द्रोणाचार्यको प्रसन्न करना चाहता है, उनको पाण्डवोंके विरुद्ध उकसाना चाहता है। कारण कि दुर्योधनके हृदयमें अधर्म है, अन्याय है, पाप है। अन्यायी, पापी व्यक्ति कभी निर्भय और सुख-शान्तिसे नहीं रह सकता—

\* जब कौरवोंकी सेनाके शंख आदि बाजे बजे, तब उनके शब्दका पाण्डव-सेनापर कुछ भी असर नहीं पड़ा। परन्तु जब पाण्डवोंकी सेनाके शंख बजे, तब उनके शब्दसे दुर्योधन आदिके हृदय विदीर्ण हो गये ( १। १३, १९ )। इससे सिद्ध होता है कि अधर्म—अन्यायका पक्ष लेनेके कारण दुर्योधन आदिके हृदय कमजोर हो गये थे और उनमें भय बैठा हुआ था।

यह नियम है। परन्तु अर्जुनके भीतर धर्म है, न्याय है। इसलिये अर्जुनके भीतर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये चालाकी नहीं है, भय नहीं है; किन्तु उत्साह है, वीरता है। तभी तो वे वीरतामें आकर सेना-निरीक्षण करनेके लिये भगवान्को आज्ञा देते हैं कि 'हे अच्युत! दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरे रथको खड़ा कर दीजिये' (पहले अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। इसका तात्पर्य है कि जिसके भीतर नाशवान् धन-सम्पत्ति आदिका आश्रय है, आदर है और जिसके भीतर अधर्म है, अन्याय है, दुर्भाव है, उसके भीतर वास्तविक बल नहीं होता। वह भीतरसे खोखला होता है

और वह कभी निर्भय नहीं होता। परन्तु जिसके भीतर अपने धर्मका पालन है और भगवान्का आश्रय है, वह कभी भयभीत नहीं होता। उसका बल सच्चा होता है। वह सदा निश्चिन्त और निर्भय रहता है। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले साधकोंको अधर्म, अन्याय आदिका सर्वथा त्याग करके और एकमात्र भगवान्का आश्रय लेकर भगवत्प्रीत्यर्थ अपने धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये। भौतिक सम्पत्तिको महत्त्व देकर और संयोगजन्य सुखके प्रलोभनमें फँसकर कभी अधर्मका आश्रय नहीं लेना चाहिये; क्योंकि इन दोनोंसे मनुष्यका कभी हित नहीं होता, प्रत्युत अहित ही होता है।

**परिशिष्ट भाव**—अर्जुनने अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित नारायणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान् श्रीकृष्णको स्वीकार किया था\* और दुर्योधनने भगवान्को छोड़कर उनकी नारायणी सेनाको स्वीकार किया था। तात्पर्य है कि अर्जुनकी दृष्टि भगवान्पर थी और दुर्योधनकी दृष्टि वैभवपर थी। जिसकी दृष्टि भगवान्पर होती है, उसका हृदय बलवान् होता है; क्योंकि भगवान्का बल सच्चा है। परन्तु जिसकी दृष्टि सांसारिक वैभवपर होती है, उसका हृदय कमजोर होता है; क्योंकि संसारका बल कच्चा है।

सम्बन्ध—अब दुर्योधन पितामह भीष्मको प्रसन्न करनेके लिये अपनी सेनाके सभी महारथियोंसे कहता है—

**अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।**

**भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥**

च	= दुर्योधन बाह्यदृष्टिसे अपनी सेनाके महारथियोंसे बोला—	सर्वेषु	= सभों	हि	= निश्चितरूपसे
		अयनेषु	= मोर्चोंपर	भीष्मम्	= पितामह भीष्मकी
		यथाभागम्	= अपनी-अपनी	एव	= ही
भवन्तः	= आप		जगह	अभिरक्षन्तु	= चारों ओरसे रक्षा करें।
सर्वे, एव	= सब-के-सब	अवस्थिताः	= दृढ़तासे स्थित		

**व्याख्या**—'अयनेषु च सर्वेषु....भवन्तः सर्व एव हि'—जिन-जिन मोर्चोंपर आपकी नियुक्ति कर दी गयी है, आप सभी योद्धालोग उन्हीं मोर्चोंपर दृढ़तासे स्थित रहते हुए सब तरफसे, सब प्रकारसे भीष्मजीकी रक्षा करें।

भीष्मजीकी सब ओरसे रक्षा करें—यह कहकर दुर्योधन भीष्मजीको भीतरसे अपने पक्षमें लाना चाहता है। ऐसा कहनेका दूसरा भाव यह है कि जब भीष्मजी युद्ध करें, तब किसी भी व्यूहद्वारसे शिखण्डी उनके सामने न आ जाय—इसका आपलोग खयाल रखें। अगर शिखण्डी उनके सामने आ जायगा, तो भीष्मजी उसपर शस्त्रास्त्र नहीं

चलायेंगे। कारण कि शिखण्डी पहले जन्ममें भी स्त्री था और इस जन्ममें भी पहले स्त्री था, पीछे पुरुष बना है। इसलिये भीष्मजी इसको स्त्री ही समझते हैं और उन्होंने शिखण्डीसे युद्ध न करनेकी प्रतिज्ञा कर रखी है। यह शिखण्डी शंकरके वरदानसे भीष्मजीको मारनेके लिये ही पैदा हुआ है। अतः जब शिखण्डीसे भीष्मजीकी रक्षा हो जायगी, तो फिर वे सबको मार देंगे, जिससे निश्चित ही हमारी विजय होगी। इस बातको लेकर दुर्योधन सभी महारथियोंसे भीष्मजीकी रक्षा करनेके लिये कह रहा है।

\* एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः। अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ॥ (महा, उद्योग० ७। २१)

'श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र धनञ्जयने संग्रामभूमिमें (अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित एक अक्षौहिणी नारायणी सेनाको छोड़कर) युद्ध न करनेवाले निःशस्त्र उन भगवान् श्रीकृष्णको ही (अपना सहायक) चुना।'

सम्बन्ध—द्रोणाचार्यके द्वारा कुछ भी न बोलनेके कारण दुर्योधनका मानसिक उत्साह भंग हुआ देखकर उसके प्रति भीष्मजीके किये हुए स्नेह-सौहार्दकी बात संजय आगेके श्लोकमें प्रकट करते हैं।

## तस्य सञ्जनयन्हर्ष कुरुवृद्धः पितामहः । सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

तस्य	= उस (दुर्योधन)-के	कुरुवृद्धः	= कौरवोंमें वृद्ध	विनद्य	= गरजकर
हर्षम्	= (हृदयमें) हर्ष	प्रतापवान्	= प्रभावशाली	उच्चैः	= जोरसे
सञ्जनयन्	= उत्पन्न करते हुए	पितामहः	= पितामह भीष्मने	शङ्खम्	= शंख
		सिंहनादम्	= सिंहके समान	दध्मौ	= बजाया ।

व्याख्या—‘तस्य सञ्जनयन् हर्षम्’—यद्यपि दुर्योधनके हृदयमें हर्ष होना शंखध्वनिका कार्य है और शंखध्वनि कारण है, इसलिये यहाँ शंखध्वनिका वर्णन पहले और हर्ष होनेका वर्णन पीछे होना चाहिये अर्थात् यहाँ ‘शंख बजाते हुए दुर्योधनको हर्षित किया’—ऐसा कहा जाना चाहिये। परन्तु यहाँ ऐसा न कहकर यही कहा है कि ‘दुर्योधनको हर्षित करते हुए भीष्मजीने शंख बजाया’। कारण कि ऐसा कहकर संजय यह भाव प्रकट कर रहे हैं कि पितामह भीष्मकी शंखवादन क्रियामात्रसे दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न हो ही जायगा। भीष्मजीके इस प्रभावको द्योतन करनेके लिये ही संजय आगे ‘प्रतापवान्’ विशेषण देते हैं।

‘कुरुवृद्धः’—यद्यपि कुरुवंशियोंमें आयुकी दृष्टिसे भीष्मजीसे भी अधिक वृद्ध बाह्यिक थे (जो कि भीष्मजीके पिता शान्तनुके छोटे भाई थे), तथापि कुरुवंशियोंमें जितने बड़े-बूढ़े थे, उन सबमें भीष्मजी धर्म और ईश्वरको विशेषतासे जाननेवाले थे। अतः ज्ञानवृद्ध होनेके कारण संजय भीष्मजीके लिये ‘कुरुवृद्धः’ विशेषण देते हैं।

‘प्रतापवान्’—भीष्मजीके त्यागका बड़ा प्रभाव था। वे कनक-कामिनीके त्यागी थे अर्थात् उन्होंने राज्य भी स्वीकार नहीं किया और विवाह भी नहीं किया। भीष्मजी अस्त्र-शस्त्रको चलानेमें बड़े निपुण थे और शास्त्रके भी बड़े जानकार थे। उनके इन दोनों गुणोंका भी लोगोंपर बड़ा प्रभाव था।

जब अकेले भीष्म अपने भाई विचित्रवीर्यके लिये

परिशिष्ट भाव—दुर्योधनके साथ द्रोणाचार्यका विद्याका सम्बन्ध था और भीष्मजीका जन्मका अर्थात् कौटुम्बिक सम्बन्ध था। जहाँ विद्याका सम्बन्ध होता है, वहाँ पक्षपात नहीं होता, पर जहाँ कौटुम्बिक सम्बन्ध होता है, वहाँ स्नेहवश पक्षपात हो जाता है। अतः दुर्योधनके द्वारा चालाकीसे कहे गये वचन सुनकर द्रोणाचार्य चुप रहे, जिससे दुर्योधनका मानसिक उत्साह भंग हो गया। परन्तु दुर्योधनको उदास देखकर कौटुम्बिक स्नेहके कारण भीष्मजी शंख बजाते हैं।

काशिराजकी कन्याओंको स्वयंवरसे हरकर ला रहे थे, तब वहाँ स्वयंवरके लिये इकट्ठे हुए सब क्षत्रिय उनपर टूट पड़े। परन्तु अकेले भीष्मजीने उन सबको हरा दिया। जिनसे भीष्म अस्त्र-शस्त्रकी विद्या पढ़े थे, उन गुरु परशुरामजीके सामने भी उन्होंने अपनी हार स्वीकार नहीं की। इस प्रकार शस्त्रके विषयमें उनका क्षत्रियोंपर बड़ा प्रभाव था।

जब भीष्म शर-शय्यापर सोये थे, तब भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराजसे कहा कि ‘आपको धर्मके विषयमें कोई शंका हो तो भीष्मजीसे पूछ लें; क्योंकि शास्त्रज्ञानका सूर्य अस्ताचलको जा रहा है अर्थात् भीष्मजी इस लोकसे जा रहे हैं।\*’ इस प्रकार शास्त्रके विषयमें उनका दूसरोंपर बड़ा प्रभाव था।

‘पितामहः’—इस पदका आशय यह मालूम देता है कि दुर्योधनके द्वारा चालाकीसे कही गयी बातोंका द्रोणाचार्यने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने यही समझा कि दुर्योधन चालाकीसे मेरेको ठगना चाहता है, इसलिये वे चुप ही रहे। परन्तु पितामह (दादा) होनेके नाते भीष्मजीको दुर्योधनकी चालाकीमें उसका बचपना दीखता है। अतः पितामह भीष्म द्रोणाचार्यके समान चुप न रहकर वात्सल्यभावके कारण दुर्योधनको हर्षित करते हुए शंख बजाते हैं।

‘सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ’—जैसे सिंहके गर्जना करनेपर हाथी आदि बड़े-बड़े पशु भी भयभीत हो जाते हैं, ऐसे ही गर्जना करनेमात्रसे सभी भयभीत हो जायें और दुर्योधन प्रसन्न हो जाय—इसी भावसे भीष्मजीने सिंहके समान गरजकर जोरसे शंख बजाया।

\* तस्मिन्स्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे । ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात् त्वां चोदयाम्यहम् ॥ ( महाभारत, शान्ति० ४६ । २३ )

सम्बन्ध—पितामह भीष्मके द्वारा शंख बजानेका परिणाम क्या हुआ, इसको संजय आगेके श्लोकमें कहते हैं।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

ततः	= उसके बाद	पणवानकगोमुखाः	= ढोल, मृदंग और नरसिंघे बाजे	अभ्यहन्यन्त	= बज उठे। (उनका)
शङ्खाः	= शंख	सहसा	= एक साथ	सः	= वह
च	= और	एव	= ही	शब्दः	= शब्द
भेर्यः	= भेरी (नगाड़े)			तुमुलः	= बड़ा भयंकर
च	= तथा			अभवत्	= हुआ।

व्याख्या—‘ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानक-गोमुखाः’—यद्यपि भीष्मजीने युद्धारम्भकी घोषणा करनेके लिये शंख नहीं बजाया था, प्रत्युत दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये ही शंख बजाया था, तथापि कौरव-सेनाने भीष्मजीके शंखवादनको युद्धकी घोषणा ही समझा। अतः भीष्मजीके शंख बजानेपर कौरव-सेनाके शंख आदि सब बाजे एक साथ बज उठे।

‘शंख’ समुद्रसे उत्पन्न होते हैं। ये ठाकुरजीकी सेवा-पूजामें रखे जाते हैं और आरती उतारने आदिके काममें आते हैं। मांगलिक कार्योंमें तथा युद्धके आरम्भमें ये मुखसे फूँक देकर बजाये जाते हैं। ‘भेरी’ नाम नगाड़ोंका है (जो बड़े नगाड़े होते हैं, उनको नौबत कहते हैं)। ये नगाड़े लोहेके बने हुए और भँसेके चमड़ेसे मढ़े हुए होते हैं, तथा लकड़ीके डंडेसे बजाये जाते हैं। ये मन्दिरोंमें एवं राजाओंके किलोंमें रखे जाते हैं। उत्सव और मांगलिक कार्योंमें ये विशेषतासे बजाये जाते हैं। राजाओंके यहाँ ये रोज बजाये जाते हैं। ‘पणव’ नाम ढोलका है। ये लोहेके अथवा लकड़ीके बने हुए और बकरेके चमड़ेसे मढ़े हुए

होते हैं तथा हाथसे या लकड़ीके डंडेसे बजाये जाते हैं। ये आकारमें ढोलकीकी तरह होनेपर भी ढोलकीसे बड़े होते हैं। कार्यके आरम्भमें पणवोंको बजाना गणेशजीके पूजनके समान मांगलिक माना जाता है। ‘आनक’ नाम मृदंगका है। इनको पखावज भी कहते हैं। आकारमें ये लकड़ीकी बनायी हुई ढोलकीके समान होते हैं। ये मिट्टीके बने हुए और चमड़ेसे मढ़े हुए होते हैं तथा हाथसे बजाये जाते हैं। ‘गोमुख’ नाम नरसिंघेका है। ये आकारमें साँपकी तरह टेढ़े होते हैं और इनका मुख गायकी तरह होता है। ये मुखकी फूँकसे बजाये जाते हैं।

‘सहसैवाभ्यहन्यन्त’\*—कौरव-सेनामें उत्साह बहुत था। इसलिये पितामह भीष्मका शंख बजते ही कौरव-सेनाके सब बाजे अनायास ही एक साथ बज उठे। उनके बजनेमें देरी नहीं हुई तथा उनको बजानेमें परिश्रम भी नहीं हुआ।

‘स शब्दस्तुमुलोऽभवत्’—अलग-अलग विभागोंमें, टुकड़ियोंमें खड़ी हुई कौरव-सेनाके शंख आदि बाजोंका शब्द बड़ा भयंकर हुआ अर्थात् उनकी आवाज बड़ी जोरसे गूँजती रही।

सम्बन्ध—इस अध्यायके आरम्भमें ही धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा था कि युद्धक्षेत्रमें मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? अतः संजयने दूसरे श्लोकसे तेरहवें श्लोकतक ‘धृतराष्ट्रके पुत्रोंने क्या किया’—इसका उत्तर दिया। अब आगेके श्लोकसे संजय ‘पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया’—इसका उत्तर देते हैं।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

\* कर्मको अत्यन्त सुगमतापूर्वक द्योतन करनेके लिये जहाँ कर्म आदिको ही कर्ता बना दिया जाता है, उसको ‘कर्मकर्तृ’ प्रयोग कहते हैं। जैसे कोई लकड़ीको चीर रहा है, तो इस कर्मको सुगम बतानेके लिये ‘लकड़ी चीरी जा रही है’ ऐसा प्रयोग किया जाता है। ऐसे ही यहाँ ‘बाजे बजाये गये’ ऐसा प्रयोग होना चाहिये; परन्तु बाजे बजानेमें सुगमता बतानेके लिये, सेनाका उत्साह दिखानेके लिये ‘बाजे बज उठे’ ऐसा प्रयोग किया गया है।

ततः	= उसके बाद	स्यन्दने	= रथपर	पाण्डवः	= पाण्डुपुत्र अर्जुनसे
श्वेतैः	= सफेद	स्थितौ	= बैठे हुए	एव	= भी
हयैः	= घोड़ोंसे	माधवः	= लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण	दिव्यौ	= दिव्य
युक्ते	= युक्त	च	= और	शङ्खौ	= शंखोंको
महति	= महान्			प्रदध्मतुः	= बड़े जोरसे बजाया।

व्याख्या—‘ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते’—चित्ररथ गन्धर्वने अर्जुनको सौ दिव्य घोड़े दिये थे। इन घोड़ोंमें यह विशेषता थी कि इनमेंसे युद्धमें कितने ही घोड़े क्यों न मारे जायँ, पर ये संख्यामें सौ-के-सौ ही बने रहते थे, कम नहीं होते थे। ये पृथ्वी, स्वर्ग आदि सभी स्थानोंमें जा सकते थे। इन्हीं सौ घोड़ोंमेंसे सुन्दर और सुशिक्षित चार सफेद घोड़े अर्जुनके रथमें जुते हुए थे।

‘महति स्यन्दने स्थितौ’—यज्ञोंमें आहुतिरूपसे दिये गये घीको खाते-खाते अग्निको अजीर्ण हो गया था। इसीलिये अग्निदेव खाण्डववनकी विलक्षण-विलक्षण जड़ी-बूटियाँ खाकर (जलाकर) अपना अजीर्ण दूर करना चाहते थे। परन्तु देवताओंके द्वारा खाण्डववनकी रक्षा की जानेके कारण अग्निदेव अपने कार्यमें सफल नहीं हो पाते थे। वे जब-जब खाण्डववनको जलाते, तब-तब इन्द्र वर्षा करके उसको (अग्निको) बुझा देते। अन्तमें अर्जुनकी सहायतासे अग्निने उस पूरे वनको जलाकर अपना अजीर्ण दूर किया और प्रसन्न होकर अर्जुनको यह बहुत बड़ा रथ दिया। नौ बैलगाड़ियोंमें जितने अस्त्र-शस्त्र आ सकते हैं, उतने अस्त्र-शस्त्र इस रथमें पड़े रहते थे। यह सोनेसे मढ़ा हुआ और तेजोमय था। इसके पहिये बड़े ही दृढ़ एवं विशाल थे। इसकी ध्वजा बिजलीके समान चमकती थी। यह ध्वजा एक योजन (चार कोस) तक फहराया करती थी। इतनी लम्बी होनेपर भी इसमें न तो बोझ था, न यह कहीं रुकती थी और न कहीं वृक्ष आदिमें अटकती ही थी। इस ध्वजापर हनुमान्जी विराजमान थे।

‘स्थितौ’ कहनेका तात्पर्य है कि उस सुन्दर और तेजोमय रथपर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण और उनके प्यारे भक्त अर्जुनके विराजमान होनेसे उस रथकी शोभा और तेज बहुत ज्यादा बढ़ गया था।

‘माधवः पाण्डवश्चैव’—‘मा’ नाम लक्ष्मीका है और ‘धव’ नाम पतिका है। अतः ‘माधव’ नाम लक्ष्मीपतिका है। यहाँ ‘पाण्डव’ नाम अर्जुनका है; क्योंकि अर्जुन सभी पाण्डवोंमें मुख्य हैं—‘पाण्डवानां धनञ्जयः’

(गीता १०।३७)।

अर्जुन ‘नर’के और श्रीकृष्ण ‘नारायण’के अवतार थे। महाभारतके प्रत्येक पर्वके आरम्भमें नर (अर्जुन) और नारायण (भगवान् श्रीकृष्ण)—को नमस्कार किया गया है—‘नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।’ इस दृष्टिसे पाण्डव-सेनामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन—ये दोनों मुख्य थे। संजयने भी गीताके अन्तमें कहा है कि ‘जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन रहेंगे, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अटल नीति रहेगी’ (१८।७८)।

‘दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः’—भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके हाथोंमें जो शंख थे, वे तेजोमय और अलौकिक थे। उन शंखोंको उन्होंने बड़े जोरसे बजाया।

यहाँ शंका हो सकती है कि कौरवपक्षमें मुख्य सेनापति पितामह भीष्म हैं, इसलिये उनका सबसे पहले शंख बजाना ठीक ही है; परन्तु पाण्डव-सेनामें मुख्य सेनापति धृष्टद्युम्नके रहते हुए ही सारथि बने हुए भगवान् श्रीकृष्णने सबसे पहले शंख क्यों बजाया? इसका समाधान है कि भगवान् सारथि बनें चाहे महारथी बनें, उनकी मुख्यता कभी मिट ही नहीं सकती। वे जिस किसी भी पदपर रहें, सदा सबसे बड़े ही बने रहते हैं। कारण कि वे अच्युत हैं, कभी च्युत होते ही नहीं। पाण्डव-सेनामें भगवान् श्रीकृष्ण ही मुख्य थे और वे ही सबका संचालन करते थे। जब वे बाल्यावस्थामें थे, उस समय भी नन्द, उपनन्द आदि उनकी बात मानते थे। तभी तो उन्होंने बालक श्रीकृष्णके कहनेसे परम्परासे चली आयी इन्द्र-पूजाको छोड़कर गोवर्धनकी पूजा करनी शुरू कर दी। तात्पर्य है कि भगवान् जिस किसी अवस्थामें, जिस किसी स्थानपर और जहाँ कहीं भी रहते हैं, वहाँ वे मुख्य ही रहते हैं। इसीलिये भगवान्ने पाण्डव-सेनामें सबसे पहले शंख बजाया।

जो स्वयं छोटा होता है, वही ऊँचे स्थानपर नियुक्त होनेसे बड़ा माना जाता है। अतः जो ऊँचे स्थानके कारण अपनेको बड़ा मानता है, वह स्वयं वास्तवमें छोटा ही होता है। परन्तु

जो स्वयं बड़ा होता है, वह जहाँ भी रहता है, उसके कारण | बने हैं, तो उनके कारण वह सारथिका स्थान (पद) भी वह स्थान भी बड़ा माना जाता है। जैसे भगवान् यहाँ सारथि | ऊँचा हो गया।

सम्बन्ध—अब संजय आगेके चार श्लोकोंमें पूर्वश्लोकका खुलासा करते हुए दूसरोंके शंखवादनका वर्णन करते हैं।

**पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।**

**पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥**

हृषीकेशः	= अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने	देवदत्तम्	= देवदत्त नामक (शंख बजाया और)	वृकोदरः	= वृकोदर भीमने
पाञ्चजन्यम्	= पांचजन्य नामक (तथा)	भीमकर्मा	= भयानक कर्म करनेवाले	पौण्ड्रम्	= पौण्ड्र नामक
धनञ्जयः	= धनंजय अर्जुनने			महाशङ्खम्	= महाशंख
				दध्मौ	= बजाया।

व्याख्या—‘पाञ्चजन्यं हृषीकेशः’—सबके अन्तर्यामी अर्थात् सबके भीतरकी बात जाननेवाले साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके पक्षमें खड़े होकर ‘पांचजन्य’ नामक शंख बजाया। भगवान्ने पंचजन नामक शंखरूपधारी दैत्यको मारकर उसको शंखरूपसे ग्रहण किया था, इसलिये इस शंखका नाम ‘पांचजन्य’ हो गया।

‘देवदत्तं धनञ्जयः’—राजसूय यज्ञके समय अर्जुनने बहुत-से राजाओंको जीतकर बहुत धन इकट्ठा किया था। इस कारण अर्जुनका नाम ‘धनंजय’ पड़ गया\*। निवातकवचादि दैत्योंके साथ युद्ध करते समय इन्द्रने अर्जुनको ‘देवदत्त’ नामक शंख दिया था। इस शंखकी ध्वनि बड़े जोरसे होती

थी, जिससे शत्रुओंकी सेना घबरा जाती थी। इस शंखको अर्जुनने बजाया।

‘पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः’—हिडिम्बासुर, बकासुर, जटासुर आदि असुरों तथा कीचक, जरासन्ध आदि बलवान् वीरोंको मारनेके कारण भीमसेनका नाम ‘भीमकर्मा’ पड़ गया। उनके पेटमें जठराग्निके सिवाय ‘वृक’ नामकी एक विशेष अग्नि थी, जिससे बहुत अधिक भोजन पचता था। इस कारण उनका नाम ‘वृकोदर’ पड़ गया। ऐसे भीमकर्मा वृकोदर भीमसेनने बहुत बड़े आकारवाला ‘पौण्ड्र’ नामक शंख बजाया।

**अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।**

**नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥**

कुन्तीपुत्रः	= कुन्तीपुत्र	नामक (शंख बजाया तथा)	सहदेवः	= सहदेवने
राजा	= राजा		सुघोषमणिपुष्पकौ	= सुघोष और मणिपुष्पक नामक
युधिष्ठिरः	= युधिष्ठिरने	नकुलः	= नकुल	
अनन्तविजयम्	= अनन्तविजय	च	= और	(शंख बजाये)।

व्याख्या—‘अनन्तविजयं राजा.....सुघोषमणि-पुष्पकौ’—अर्जुन, भीम और युधिष्ठिर—ये तीनों कुन्तीके पुत्र हैं तथा नकुल और सहदेव—ये दोनों माद्रीके पुत्र हैं, यह विभाग दिखानेके लिये ही यहाँ युधिष्ठिरके लिये ‘कुन्तीपुत्र’ विशेषण दिया गया है।

युधिष्ठिरको ‘राजा’ कहनेका तात्पर्य है कि युधिष्ठिरजी

वनवासके पहले अपने आधे राज्य-(इन्द्रप्रस्थ-)के राजा थे, और नियमके अनुसार बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके बाद वे राजा होने चाहिये थे। ‘राजा’ विशेषण देकर संजय यह भी संकेत करना चाहते हैं कि आगे चलकर धर्मराज युधिष्ठिर ही सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलके राजा होंगे।

\* सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा वित्तमादाय केवलम्। मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मा धनञ्जयम् ॥ ( महाभारत, विराट० ४४। १३ )



काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।  
 धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥  
 द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।  
 सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

पृथिवीपते	= हे राजन्!	विराटः	= राजा विराट	भुजाओंवाले	
परमेष्वासः	= श्रेष्ठ धनुषवाले	च	= और	सौभद्रः	= सुभद्रापुत्र
काश्यः	= काशिराज	अपराजितः	= अजेय		अभिमन्यु
च	= और	सात्यकिः	= सात्यकि,		(— इन सभीने)
महारथः	= महारथी	द्रुपदः	= राजा द्रुपद	सर्वशः	= सब ओरसे
शिखण्डी	= शिखण्डी	च	= और	पृथक्, पृथक्	= अलग-अलग
च	= तथा	द्रौपदेयाः	= द्रौपदीके पाँचों पुत्र		(अपने-अपने)
धृष्टद्युम्नः	= धृष्टद्युम्न	च	= तथा	शङ्खान्	= शंख
च	= एवं	महाबाहुः	= लम्बी-लम्बी	दध्मुः	= बजाये ।

व्याख्या—‘काश्यश्च परमेष्वासः.....शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक्’—महारथी शिखण्डी बहुत शूरवीर था। यह पहले जन्ममें स्त्री (काशिराजकी कन्या अम्बा) था और इस जन्ममें भी राजा द्रुपदको पुत्रीरूपसे प्राप्त हुआ था। आगे चलकर यही शिखण्डी स्थूणाकर्ण नामक यक्षसे पुरुषत्व प्राप्त करके पुरुष बना। भीष्मजी इन सब बातोंको जानते थे और शिखण्डीको स्त्री ही समझते थे। इस कारण वे इसपर बाण नहीं चलाते थे। अर्जुनने युद्धके समय इसीको आगे करके भीष्मजीपर बाण चलाये और उनको रथसे नीचे गिरा दिया। अर्जुनका पुत्र अभिमन्यु बहुत शूरवीर था। युद्धके समय इसने द्रोणनिर्मित चक्रव्यूहमें घुसकर अपने पराक्रमसे बहुत-से वीरोंका संहार किया। अन्तमें कौरव-सेनाके छः महारथियोंने इसको अन्यायपूर्वक घेरकर इसपर शस्त्र-

अस्त्र चलाये। दुःशासनपुत्रके द्वारा सिरपर गदाका प्रहार होनेसे इसकी मृत्यु हो गयी।

संजयने शंखवादनके वर्णनमें कौरव-सेनाके शूरवीरोंमेंसे केवल भीष्मजीका ही नाम लिया और पाण्डव-सेनाके शूरवीरोंमेंसे भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीम आदि अठारह वीरोंके नाम लिये। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संजयके मनमें अधर्मके पक्ष-(कौरवसेना-) का आदर नहीं है। इसलिये वे अधर्मके पक्षका अधिक वर्णन करना उचित नहीं समझते। परन्तु उनके मनमें धर्मके पक्ष-(पाण्डवसेना-) का आदर होनेसे और भगवान् श्रीकृष्ण तथा पाण्डवोंके प्रति आदरभाव होनेसे वे उनके पक्षका ही अधिक वर्णन करना उचित समझते हैं और उनके पक्षका वर्णन करनेमें ही उनको आनन्द आ रहा है।

सम्बन्ध—पाण्डव-सेनाके शंखवादनका कौरवसेनापर क्या असर हुआ—इसको आगेके श्लोकमें कहते हैं।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।  
 नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

च	= और	नभः	= आकाश	धार्तराष्ट्राणाम्	= अन्यायपूर्वक
सः	= (पाण्डव-सेनाके शंखोंके) उस	च	= और		राज्य हड़पनेवाले
तुमुलः	= भयंकर	पृथिवीम्	= पृथ्वीको		दुर्योधन आदिके
घोषः	= शब्दने	एव	= भी	हृदयानि	= हृदय
		व्यनुनादयन्	= गुँजाते हुए	व्यदारयत्	= विदीर्ण कर दिये।

व्याख्या—‘स घोषो धार्तराष्ट्राणां.....तुमुलो व्यनुनादयन्’—पाण्डव-सेनाकी वह शंखध्वनि इतनी विशाल, गहरी, ऊँची और भयंकर हुई कि उस (ध्वनि-प्रतिध्वनि-) से पृथ्वी और आकाशके बीचका भाग गुँज

उठा। उस शब्दसे अन्यायपूर्वक राज्यको हड़पनेवालोंके और उनकी सहायताके लिये (उनके पक्षमें) खड़े हुए राजाओंके हृदय विदीर्ण हो गये। तात्पर्य है कि हृदयको किसी अस्त्र-शस्त्रसे विदीर्ण करनेसे जैसी पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा उनके हृदयमें शंखध्वनिसे हो गयी। उस शंखध्वनिसे कौरव-सेनाके हृदयमें युद्धका जो उत्साह था, बल था, उसको कमजोर बना दिया, जिससे उनके हृदयमें पाण्डव-सेनाका भय उत्पन्न हो गया।

संजय ये बातें धृतराष्ट्रको सुना रहे हैं। धृतराष्ट्रके सामने ही संजयका 'धृतराष्ट्रके पुत्रों अथवा सम्बन्धियोंके हृदय विदीर्ण कर दिये' ऐसा कहना सभ्यतापूर्ण और युक्तिसंगत नहीं मालूम देता। इसलिये संजयको 'धार्तराष्ट्राणाम्' न कहकर 'तावकीनानाम्' (आपके पुत्रों अथवा सम्बन्धियोंके— ऐसा) कहना चाहिये था; क्योंकि ऐसा कहना ही सभ्यता है। इस दृष्टिसे यहाँ 'धार्तराष्ट्राणाम्' पदका अर्थ 'जिन्होंने अन्यायपूर्वक राज्यको धारण किया'<sup>१</sup>— ऐसा लेना ही युक्तिसंगत तथा सभ्यतापूर्ण मालूम देता है। अन्यायका पक्ष लेनेसे ही उनके हृदय विदीर्ण हो गये— इस दृष्टिसे भी यह अर्थ लेना ही युक्तिसंगत मालूम देता है।

यहाँ शंका होती है कि कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी<sup>२</sup> सेनाके शंख आदि बाजे बजे तो उनके शब्दका पाण्डवसेना-पर कुछ भी असर नहीं हुआ, पर पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाके शंख बजे तो उनके शब्दसे कौरव-सेनाके हृदय विदीर्ण क्यों हो गये? इसका समाधान यह है कि जिनके हृदयमें अधर्म, पाप, अन्याय नहीं है अर्थात् जो धर्मपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते हैं, उनका हृदय मजबूत होता है, उनके हृदयमें भय नहीं होता। न्यायका पक्ष

होनेसे उनमें उत्साह होता है, शूरवीरता होती है। पाण्डवोंने वनवासके पहले भी न्याय और धर्मपूर्वक राज्य किया था और वनवासके बाद भी नियमके अनुसार कौरवोंसे न्यायपूर्वक राज्य माँगा था। अतः उनके हृदयमें भय नहीं था, प्रत्युत उत्साह था, शूरवीरता थी। तात्पर्य है कि पाण्डवोंका पक्ष धर्मका था। इस कारण कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके बाजोंके शब्दका पाण्डव-सेनापर कोई असर नहीं हुआ। परन्तु जो अधर्म, पाप, अन्याय आदि करते हैं, उनके हृदय स्वाभाविक ही कमजोर होते हैं। उनके हृदयमें निर्भयता, निःशंकता नहीं रहती। उनका खुदका किया पाप, अन्याय ही उनके हृदयको निर्बल बना देता है। अधर्म अधर्मीको खा जाता है। दुर्योधन आदिने पाण्डवोंको अन्यायपूर्वक मारनेका बहुत प्रयास किया था। उन्होंने छल-कपटसे अन्यायपूर्वक पाण्डवोंका राज्य छीना था और उनको बहुत कष्ट दिये थे। इस कारण उनके हृदय कमजोर, निर्बल हो चुके थे। तात्पर्य है कि कौरवोंका पक्ष अधर्मका था। इसलिये पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाकी शंख-ध्वनिसे उनके हृदय विदीर्ण हो गये, उनमें बड़े जोरकी पीड़ा हो गयी।

इस प्रसंगसे साधकको सावधान हो जाना चाहिये कि उसके द्वारा अपने शरीर, वाणी, मनसे कभी भी कोई अन्याय और अधर्मका आचरण न हो। अन्याय और अधर्मयुक्त आचरणसे मनुष्यका हृदय कमजोर, निर्बल हो जाता है। उसके हृदयमें भय पैदा हो जाता है। उदाहरणार्थ, लंकाधिपति रावणसे त्रिलोकी डरती थी। वही रावण जब सीताजीका हरण करने जाता है, तब भयभीत होकर इधर-उधर देखता है<sup>३</sup>। इसलिये साधकको चाहिये कि वह अन्याय—अधर्मयुक्त आचरण कभी न करे।

१- 'अन्यायेन धृतं राष्ट्रं यैस्ते धृतराष्ट्राः' ऐसा बहुव्रीहि समास करनेके बाद 'धृतराष्ट्रा एव' इस विग्रहमें स्वार्थमें तद्धितका 'अण्' प्रत्यय किया गया, जिससे 'धार्तराष्ट्राः' यह रूप बन गया। यहाँ षष्ठी विभक्तिके प्रयोगकी आवश्यकता होनेसे षष्ठीमें 'धार्तराष्ट्राणाम्' ऐसा प्रयोग किया गया है।

२- दुर्योधनके पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणी सेनाका होना सम्भव ही नहीं था; परन्तु जब पाण्डव वनवासमें चले गये, तब दुर्योधनने धर्मराज युधिष्ठिरकी राज्य करनेकी नीतिको अपनाया। जैसे युधिष्ठिरजी अपना कर्तव्य समझकर प्रजाको सुख देनेके लिये धर्म और न्यायपूर्वक राज्य करते थे, ऐसे ही दुर्योधनने भी अपना राज्य स्थापित करनेके लिये, अपना प्रभाव जमानेके लिये प्रजाके साथ युधिष्ठिरके समान बर्ताव किया। तेरह वर्षतक प्रजाके साथ अच्छा बर्ताव करनेसे युद्धके समय बहुत सेना जुट गयी, जो कि पहले पाण्डवोंके पक्षमें थी और पाण्डवोंको चाहती थी। इस प्रकार नौ अक्षौहिणी सेना तो प्रजाके साथ अच्छे बर्तावके प्रभावसे दुर्योधनके पक्षमें हो गयी और भगवान् श्रीकृष्णकी एक अक्षौहिणी नारायणी सेनाको तथा मद्रराज शल्यकी एक अक्षौहिणी सेनाको दुर्योधनने चालाकीसे अपने पक्षमें कर लिया, जो कि पाण्डवोंके पक्षमें थी। अतः दुर्योधनके पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणी सेना और पाण्डवोंके पक्षमें सात अक्षौहिणी सेना थी।

३- सूनू बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती कें बेषा ॥

जाकें डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं ॥

सम्बन्ध—धृतराष्ट्रने पहले श्लोकमें अपने और पाण्डुके पुत्रोंके विषयमें प्रश्न किया था। उसका उत्तर संजयने दूसरे श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक दे दिया। अब संजय भगवद्गीताके प्राकट्यका प्रसंग आगेके श्लोकसे आरम्भ करते हैं।

**अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।**

**प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥**

**हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।**

महीपते	= हे महीपते धृतराष्ट्र !	करनेवाले	धनुः	= (अपना) गाण्डीव
अथ	= अब	राजाओं और उनके		धनुष
शस्त्रसम्पाते	= शस्त्र चलनेकी	साधियोंको	उद्यम्य	= उठा लिया (और)
प्रवृत्ते	= तैयारी हो ही रही थी कि	व्यवस्थितान् = व्यवस्थितरूपसे	हृषीकेशम्	= अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे
तदा	= उस समय	दृष्ट्वा = देखकर	इदम्	= यह
धार्तराष्ट्रान्	= अन्यायपूर्वक राज्यको धारण	कपिध्वजः = कपिध्वज	वाक्यम्	= वचन
		पाण्डवः = पाण्डुपुत्र अर्जुनने	आह	= बोले।

व्याख्या—‘अथ’—इस पदका तात्पर्य है कि अब संजय भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप ‘भगवद्गीता’ का आरम्भ करते हैं। अठारहवें अध्यायके चौहत्तरवें श्लोकमें आये ‘इति’ पदसे यह संवाद समाप्त होता है। ऐसे ही भगवद्गीताके उपदेशका आरम्भ उसके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे होता है और अठारहवें अध्यायके छठठवें श्लोकमें यह उपदेश समाप्त होता है।

‘प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते’—यद्यपि पितामह भीष्मने युद्धारम्भकी घोषणाके लिये शंख नहीं बजाया था, प्रत्युत केवल दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये ही शंख बजाया था, तथापि कौरव और पाण्डव-सेनाने उसको युद्धारम्भकी घोषणा ही मान लिया और अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र हाथमें उठाकर तैयार हो गये। इस तरह सेनाको शस्त्र उठाये देखकर वीरतामें भरकर अर्जुनने भी अपना गाण्डीव धनुष हाथमें उठा लिया।

‘व्यवस्थितान् धार्तराष्ट्रान् दृष्ट्वा’—इन पदोंसे संजयका तात्पर्य है कि जब आपके पुत्र दुर्योधनने पाण्डवोंकी सेनाको देखा, तब वह भागा-भागा द्रोणाचार्यके पास गया। परन्तु जब अर्जुनने कौरवोंकी सेनाको देखा, तब उनका हाथ सीधे गाण्डीव धनुषपर ही गया—‘धनुरुद्यम्य।’ इससे

मालूम होता है कि दुर्योधनके भीतर भय है और अर्जुनके भीतर निर्भयता है, उत्साह है, वीरता है।

‘कपिध्वजः’—अर्जुनके लिये ‘कपिध्वज’ विशेषण देकर संजय धृतराष्ट्रको अर्जुनके रथकी ध्वजापर विराजमान हनुमान्जीका स्मरण कराते हैं। जब पाण्डव वनमें रहते थे, तब एक दिन अकस्मात् वायुने एक दिव्य सहस्रदल कमल लाकर द्रौपदीके सामने डाल दिया। उसे देखकर द्रौपदी बहुत प्रसन्न हो गयी और उसने भीमसेनसे कहा कि ‘वीरवर! आप ऐसे बहुत-से कमल ला दीजिये।’ द्रौपदीकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये भीमसेन वहाँसे चल पड़े। जब वे कदलीवनमें पहुँचे, तब वहाँ उनकी हनुमान्जीसे भेंट हो गयी। उन दोनोंकी आपसमें कई बातें हुईं। अन्तमें हनुमान्जीने भीमसेनसे वरदान माँगनेके लिये आग्रह किया तो भीमसेनने कहा कि ‘मेरेपर आपकी कृपा बनी रहे’। इसपर हनुमान्जीने कहा कि ‘हे वायुपुत्र! जिस समय तुम बाण और शक्तिके आघातसे व्याकुल शत्रुओंकी सेनामें घुसकर सिंहनाद करोगे, उस समय मैं अपनी गर्जनासे उस सिंहनादको और बढ़ा दूँगा। इसके सिवाय अर्जुनके रथकी ध्वजापर बैठकर मैं ऐसी भयंकर गर्जना किया करूँगा, जो शत्रुओंके प्राणोंको हरनेवाली होगी,

सो दससीस स्वान की नाई। इत उत चितइ चला भड़िहाई॥

इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥

(मानस ३। २८। ४-५)

जिससे तुमलोग अपने शत्रुओंको सुगमतासे मार सकोगे।\*’ इस प्रकार जिनके रथकी ध्वजापर हनुमान्जी विराजमान हैं, उनकी विजय निश्चित है।

‘पाण्डवः’—धृतराष्ट्रने अपने प्रश्नमें ‘पाण्डवाः’ पदका प्रयोग किया था। अतः धृतराष्ट्रको बार-बार पाण्डवोंकी याद दिलानेके लिये संजय (१। १४ में और यहाँ) ‘पाण्डवः’ शब्दका प्रयोग करते हैं।

‘हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते’—पाण्डव-सेनाको देखकर दुर्योधन तो गुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर चालाकीसे भरे हुए वचन बोलता है; परन्तु अर्जुन कौरव-सेनाको देखकर जो जगद्गुरु हैं, अन्तर्यामी हैं, मन-बुद्धि आदिके प्रेरक हैं—ऐसे भगवान् श्रीकृष्णसे शूरवीरता, उत्साह और अपने कर्तव्यसे भरे हुए (आगे कहे जानेवाले) वचन बोलते हैं।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्नरणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

अर्जुन बोले—

अच्युत = हे अच्युत!  
उभयोः = दोनों  
सेनयोः = सेनाओंके  
मध्ये = मध्यमें  
मे = मेरे  
रथम् = रथको (आप तबतक)

स्थापय = खड़ा कीजिये,  
यावत् = जबतक  
अहम् = मैं (युद्धक्षेत्रमें)  
अवस्थितान् = खड़े हुए  
एतान् = इन  
योद्धुकामान् = युद्धकी इच्छावालोंको

निरीक्षे = देख न लूँ कि  
अस्मिन् = इस  
रणसमुद्यमे = युद्धरूप उद्योगमें  
मया = मुझे  
कैः = किन-किनके  
सह = साथ  
योद्धव्यम् = युद्ध करना योग्य है।

व्याख्या—‘अच्युत सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय’—दोनों सेनाएँ जहाँ युद्ध करनेके लिये एक-दूसरेके सामने खड़ी थीं, वहाँ उन दोनों सेनाओंमें इतनी दूरी थी कि एक सेना दूसरी सेनापर बाण आदि मार सके। उन दोनों सेनाओंका मध्यभाग दो तरफसे मध्य था—(१) सेनाएँ जितनी चौड़ी खड़ी थीं, उस चौड़ाईका मध्यभाग और (२) दोनों सेनाओंका मध्यभाग, जहाँसे कौरव-सेना जितनी दूरीपर खड़ी थी, उतनी ही दूरीपर पाण्डव-सेना खड़ी थी। ऐसे मध्यभागमें रथ खड़ा करनेके लिये अर्जुन भगवान्से कहते हैं, जिससे दोनों सेनाओंको आसानीसे देखा जा सके।

‘सेनयोरुभयोर्मध्ये’ पद गीतामें तीन बार आया है—यहाँ (१। २१ में), इसी अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें और दूसरे अध्यायके दसवें श्लोकमें। तीन बार आनेका तात्पर्य है कि पहले अर्जुन शूरवीरताके साथ अपने रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेकी आज्ञा देते हैं (पहले अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक), फिर भगवान् दोनों सेनाओंके

बीचमें रथको खड़ा करके कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहते हैं (पहले अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक) और अन्तमें दोनों सेनाओंके बीचमें ही विषादमग्न अर्जुनको गीताका उपदेश देते हैं (दूसरे अध्यायका दसवाँ श्लोक)। इस प्रकार पहले अर्जुनमें शूरवीरता थी, बीचमें कुटुम्बियोंको देखनेसे मोहके कारण उनकी युद्धसे उपरति हो गयी और अन्तमें उनको भगवान्से गीताका महान् उपदेश प्राप्त हुआ, जिससे उनका मोह दूर हो गया। इससे यह भाव निकलता है कि मनुष्य जहाँ-कहीं और जिस-किसी परिस्थितिमें स्थित है, वहीं रहकर वह प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके निष्काम हो सकता है और वहीं उसको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। कारण कि परमात्मा सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें सदा एकरूपसे रहते हैं।

‘यावदेतान्निरीक्षेऽहं.....रणसमुद्यमे’—दोनों सेनाओंके बीचमें रथ कबतक खड़ा करें ? इसपर अर्जुन कहते हैं कि युद्धकी इच्छाको लेकर कौरव-सेनामें आये हुए सेनासहित जितने भी राजालोग खड़े हैं, उन सबको जबतक

\* तदाहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव। विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान् मोक्ष्यामि दारुणान् ॥

शत्रूणां ये प्राणहराः सुखं येन हनिष्यथ। (महाभारत, वन० १५१। १७-१८)

मैं देख न लूँ, तबतक आप रथको वहीं खड़ा रखिये। इस युद्धके उद्योगमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है? उनमें कौन मेरे समान बलवाले हैं? कौन मेरेसे कम बलवाले हैं? और कौन मेरेसे अधिक बलवाले हैं? उन सबको मैं जरा देख लूँ।

यहाँ 'योद्धुकामान्' पदसे अर्जुन कह रहे हैं कि हमने तो सन्धिकी बात ही सोची थी, पर उन्होंने सन्धिकी बात स्वीकार नहीं की; क्योंकि उनके मनमें युद्ध करनेकी ज्यादा इच्छा है। अतः उनको मैं देखूँ कि कितने बलको लेकर वे युद्ध करनेकी इच्छा रखते हैं।

## योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः । धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

दुर्बुद्धेः	= दुष्टबुद्धि	ये	= जो	उतावले
धार्तराष्ट्रस्य	= दुर्योधनका	एते	= ये राजालोग	हुए (इन
युद्धे	= युद्धमें	अत्र	= इस सेनामें	सबको)
प्रियचिकीर्षवः	= प्रिय करनेकी इच्छावाले	समागताः	= आये हुए हैं,	अहम् = मैं
		योत्स्यमानान्	= युद्ध करनेको	अवेक्षे = देख लूँ।

व्याख्या—'धार्तराष्ट्रस्य \* दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः'— यहाँ दुर्योधनको दुष्टबुद्धि कहकर अर्जुन यह बताना चाहते हैं कि इस दुर्योधनने हमारा नाश करनेके लिये आजतक कई तरहके षड्यन्त्र रचे हैं। हमें अपमानित करनेके लिये कई तरहके उद्योग किये हैं। नियमके अनुसार और न्यायपूर्वक हम आधे राज्यके अधिकारी हैं, पर उसको भी यह हड़पना चाहता है, देना नहीं चाहता। ऐसी तो इसकी दुष्टबुद्धि है; और यहाँ आये हुए राजालोग युद्धमें इसका प्रिय करना चाहते हैं! वास्तवमें तो मित्रोंका यह कर्तव्य होता है कि वे ऐसा काम करें, ऐसी बात बतायें, जिससे अपने मित्रका लोक-परलोकमें हित हो। परन्तु ये राजालोग दुर्योधनकी दुष्टबुद्धिको शुद्ध न करके उलटे उसको बढ़ाना चाहते हैं और दुर्योधनसे युद्ध कराकर, युद्धमें उसकी सहायता करके उसका पतन ही करना चाहते हैं।

तात्पर्य है कि दुर्योधनका हित किस बातमें है; उसको राज्य भी किस बातसे मिलेगा और उसका परलोक भी किस बातसे सुधरेगा—इन बातोंका वे विचार ही नहीं कर रहे हैं। अगर ये राजालोग उसको यह सलाह देते कि भाई, कम-से-कम आधा राज्य तुम रखो और पाण्डवोंका आधा राज्य पाण्डवोंको दे दो तो इससे दुर्योधनका आधा राज्य भी रहता और उसका परलोक भी सुधरता।

'योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः'—इन युद्धके लिये उतावले होनेवालोंको जरा देख तो लूँ! इन्होंने अधर्मका, अन्यायका पक्ष लिया है, इसलिये ये हमारे सामने टिक नहीं सकेंगे, नष्ट हो जायँगे।

'योत्स्यमानान्' कहनेका तात्पर्य है कि इनके मनमें युद्धकी ज्यादा आ रही है; अतः देखूँ तो सही कि ये हैं कौन ?

सम्बन्ध—अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान्ने क्या किया—इसको संजय आगेके दो श्लोकोंमें कहते हैं।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।  
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥  
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।  
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

\* 'धार्तराष्ट्र' पदके दो अर्थ होते हैं—(१) धृतराष्ट्रके पुत्र अथवा सम्बन्धी (२) अन्यायपूर्वक राष्ट्र-(राज्य-) को धारण करनेवाले। यहाँ धृतराष्ट्रके पुत्र—दुर्योधनके लिये ही 'धार्तराष्ट्रस्य' पद आया है।

संजय बोले—

भारत	= हे भरतवंशी राजन्!	सेनयोः	= सेनाओंके	रथोत्तमम्	= श्रेष्ठ रथको
गुडाकेशेन	= निद्राविजयी अर्जुनके द्वारा	मध्ये	= मध्यभागमें	स्थापयित्वा	= खड़ा करके
एवम्	= इस तरह	भीष्मद्रोणप्रमुखतः	= पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके	इति	= इस प्रकार
उक्तः	= कहनेपर	च	= तथा	उवाच	= कहा कि
हृषीकेशः	= अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने	सर्वेषाम्	= सम्पूर्ण	पार्थ	= 'हे पार्थ!
उभयोः	= दोनों	महीक्षिताम्	= राजाओंके सामने	एतान्	= इन
				समवेतान्	= इकट्ठे हुए
				कुरुन्	= कुरुवंशियोंको
				पश्य	= देख'।

व्याख्या—'गुडाकेशेन'—'गुडाकेश' शब्दके दो अर्थ होते हैं—(१) 'गुडा' नाम मुड़े हुआ है और 'केश' नाम बालोंका है। जिसके सिरके बाल मुड़े हुए अर्थात् घुँघराले हैं, उसका नाम 'गुडाकेश' है। (२) 'गुडाका' नाम निद्राका है और 'ईश' नाम स्वामीका है। जो निद्राका स्वामी है अर्थात् निद्रा ले चाहे न ले—ऐसा जिसका निद्रापर अधिकार है, उसका नाम 'गुडाकेश' है। अर्जुनके केश घुँघराले थे और उनका निद्रापर आधिपत्य था; अतः उनको 'गुडाकेश' कहा गया है।

'एवमुक्तः'—जो निद्रा-आलस्यके सुखका गुलाम नहीं होता और जो विषय-भोगोंका दास नहीं होता, केवल भगवान्का ही दास (भक्त) होता है, उस भक्तकी बात भगवान् सुनते हैं; केवल सुनते ही नहीं, उसकी आज्ञाका पालन भी करते हैं। इसलिये अपने सखा भक्त अर्जुनके द्वारा आज्ञा देनेपर अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें अर्जुनका रथ खड़ा कर दिया।

'हृषीकेशः'—इन्द्रियोंका नाम 'हृषीक' है। जो इन्द्रियोंके ईश अर्थात् स्वामी हैं, उनको हृषीकेश कहते हैं। पहले इक्कीसवें श्लोकमें और यहाँ 'हृषीकेश' कहनेका तात्पर्य है कि जो मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सबके प्रेरक हैं, सबको आज्ञा देनेवाले हैं, वे ही अन्तर्यामी भगवान् यहाँ अर्जुनकी आज्ञाका पालन करनेवाले बन गये हैं! यह उनकी अर्जुनपर कितनी अधिक कृपा है!

'सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्'—दोनों सेनाओंके बीचमें जहाँ खाली जगह थी, वहाँ भगवान्ने अर्जुनके श्रेष्ठ रथको खड़ा कर दिया।

'भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्'—उस रथको भी भगवान्ने विलक्षण चतुराईसे ऐसी जगह खड़ा किया, जहाँसे अर्जुनको कौटुम्बिक सम्बन्धवाले पितामह भीष्म, विद्याके सम्बन्धवाले आचार्य द्रोण एवं कौरव-

सेनाके मुख्य-मुख्य राजालोग सामने दिखायी दे सकें।

'उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरुनिति'—'कुरु' पदमें धृतराष्ट्रके पुत्र और पाण्डुके पुत्र—ये दोनों आ जाते हैं; क्योंकि ये दोनों ही कुरुवंशी हैं। युद्धके लिये एकत्र हुए इन कुरुवंशियोंको देख—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि इन कुरुवंशियोंको देखकर अर्जुनके भीतर यह भाव पैदा हो जाय कि हम सब एक ही तो हैं! इस पक्षके हों, चाहे उस पक्षके हों; भले हों, चाहे बुरे हों; सदाचारी हों, चाहे दुराचारी हों; पर हैं सब अपने ही कुटुम्बी। इस कारण अर्जुनमें छिपा हुआ कौटुम्बिक ममतायुक्त मोह जाग्रत् हो जाय और मोह जाग्रत् होनेसे अर्जुन जिज्ञासु बन जाय, जिससे अर्जुनको निमित्त बनाकर भावी कलियुगी जीवोंके कल्याणके लिये गीताका महान् उपदेश दिया जा सके—इसी भावसे भगवान्ने यहाँ 'पश्यैतान् समवेतान् कुरुन्' कहा है। नहीं तो भगवान् 'पश्यैतान् धार्तराष्ट्रान् समानिति'—ऐसा भी कह सकते थे; परन्तु ऐसा कहनेसे अर्जुनके भीतर युद्ध करनेका जोश आता; जिससे गीताके प्राकट्यका अवसर ही नहीं आता! और अर्जुनके भीतरका प्रसुप्त कौटुम्बिक मोह भी दूर नहीं होता, जिसको दूर करना भगवान् अपनी जिम्मेवारी मानते हैं। जैसे कोई फोड़ा हो जाता है तो वैद्यलोग पहले उसको पकानेकी चेष्टा करते हैं और जब वह पक जाता है, तब उसको चीरा देकर साफ कर देते हैं; ऐसे ही भगवान् भक्तके भीतर छिपे हुए मोहको पहले जाग्रत् करके फिर उसको मिटाते हैं। यहाँ भी भगवान् अर्जुनके भीतर छिपे हुए मोहको 'कुरुन् पश्य' कहकर जाग्रत् कर रहे हैं, जिसको आगे उपदेश देकर नष्ट कर देंगे।

अर्जुनने कहा था कि 'इनको मैं देख लूँ'—'निरीक्षे' (१। २२) 'अवेक्षे' (१। २३); अतः यहाँ भगवान्को 'पश्य' (तू देख ले)—ऐसा कहनेकी जरूरत ही नहीं थी। भगवान्को तो केवल रथ खड़ा कर देना चाहिये था। परन्तु

भगवान्ने रथ खड़ा करके अर्जुनके मोहको जाग्रत् करनेके लिये ही 'कुरुन् पश्य' (इन कुरुवंशियोंको देख) — ऐसा कहा है।

कौटुम्बिक स्नेह और भगवत्प्रेम—इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। कुटुम्बमें ममतायुक्त स्नेह हो जाता है तो कुटुम्बके अवगुणोंकी तरफ खयाल जाता ही नहीं; किंतु 'ये मेरे हैं'—ऐसा भाव रहता है। ऐसे ही भगवान्का भक्तमें विशेष स्नेह हो जाता है तो भक्तके अवगुणोंकी तरफ भगवान्का खयाल जाता ही नहीं; किन्तु 'यह मेरा ही है'—

ऐसा ही भाव रहता है। कौटुम्बिक स्नेहमें क्रिया तथा पदार्थ- (शरीरादि-) की और भगवत्प्रेममें भावकी मुख्यता रहती है। कौटुम्बिक स्नेहमें मूढ़ता-(मोह-) की और भगवत्प्रेममें आत्मीयताकी मुख्यता रहती है। कौटुम्बिक स्नेहमें अंधेरा और भगवत्प्रेममें प्रकाश रहता है। कौटुम्बिक स्नेहमें मनुष्य कर्तव्यच्युत हो जाता है और भगवत्प्रेममें तल्लीनताके कारण कर्तव्य-पालनमें विस्मृति तो हो सकती है, पर भक्त कभी कर्तव्यच्युत नहीं होता। कौटुम्बिक स्नेहमें कुटुम्बियोंकी और भगवत्प्रेममें भगवान्की प्रधानता होती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहा। उसके बाद क्या हुआ—इसका वर्णन संजय आगेके श्लोकोंमें करते हैं।

**तत्रापश्यत्स्थितान्यार्थः पितृनथ पितामहान् ।  
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्यौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥  
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।**

अथ	= उसके बाद	पितृन्	= पिताओंको,	तथा	= तथा
पार्थः	= पृथानन्दन अर्जुनने	पितामहान्	= पितामहोंको,	सखीन्	= मित्रोंको,
तत्र	= उन	आचार्यान्	= आचार्योंको,	श्वशुरान्	= ससुरोंको
उभयोः	= दोनों	मातुलान्	= मामाओंको,	च	= और
एव	= ही	भ्रातृन्	= भाइयोंको,	सुहृदः	= सुहृदोंको
सेनयोः	= सेनाओंमें	पुत्रान्	= पुत्रोंको,	अपि	= भी
स्थितान्	= स्थित	पौत्रान्	= पौत्रोंको	अपश्यत्	= देखा।

व्याख्या—'तत्रापश्यत्.....सेनयोरुभयोरपि'—जब भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि इस रणभूमिमें इकट्ठे हुए कुरुवंशियोंको देख, तब अर्जुनकी दृष्टि दोनों सेनाओंमें स्थित अपने कुटुम्बियोंपर गयी। उन्होंने देखा कि उन सेनाओंमें युद्धके लिये अपने-अपने स्थानपर भूरिश्रवा आदि पिताके भाई खड़े हैं, जो कि मेरे लिये पिताके समान हैं। भीष्म, सोमदत्त आदि पितामह खड़े हैं। द्रोण, कृप आदि आचार्य (विद्या पढ़ानेवाले और कुलगुरु) खड़े हैं।

पुरुजित् कुन्तिभोज, शल्य, शकुनि आदि मामा खड़े हैं। भीम, दुर्योधन आदि भाई खड़े हैं। अभिमन्यु, घटोत्कच, लक्ष्मण (दुर्योधनका पुत्र) आदि मेरे और मेरे भाइयोंके पुत्र खड़े हैं। लक्ष्मण आदिके पुत्र खड़े हैं, जो कि मेरे पौत्र हैं। दुर्योधनके अश्वत्थामा आदि मित्र खड़े हैं और ऐसे ही अपने पक्षके मित्र भी खड़े हैं। द्रुपद, शैब्य आदि ससुर खड़े हैं। बिना किसी हेतुके अपने-अपने पक्षका हित चाहनेवाले सात्यकि, कृतवर्मा आदि सुहृद् भी खड़े हैं।

सम्बन्ध—अपने सब कुटुम्बियोंको देखनेके बाद अर्जुनने क्या किया—इसको आगेके श्लोकमें कहते हैं।

**तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥  
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।**

अवस्थितान्	= अपनी-अपनी जगहपर स्थित	समीक्ष्य	= देखकर	कृपया	= कायरतासे
तान्	= उन	सः	= वे	आविष्टः	= युक्त होकर
सर्वान्	= सम्पूर्ण	कौन्तेयः	= कुन्तीनन्दन अर्जुन	विषीदन्	= विषाद करते हुए
बन्धून्	= बान्धवोंको	परया	= अत्यन्त	इदम्	= ऐसा
				अब्रवीत्	= बोले।

व्याख्या—‘तान् सर्वान्बन्धून्वस्थितान् समीक्ष्य’—पूर्वश्लोकके अनुसार अर्जुन जिनको देख चुके हैं, उनके अतिरिक्त अर्जुनने बाह्यीक आदि प्रपितामह; धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सुरथ आदि साले; जयद्रथ आदि बहनोई तथा अन्य कई सम्बन्धियोंको दोनों सेनाओंमें स्थित देखा।

‘स कौन्तेयः कृपया परयाविष्टः’—इन पदोंमें ‘स कौन्तेयः’ कहनेका तात्पर्य है कि माता कुन्तीने जिनको युद्ध करनेके लिये सन्देश भेजा था और जिन्होंने शूरवीरतामें आकर ‘मेरे साथ दो हाथ करनेवाले कौन हैं?’—ऐसे मुख्य-मुख्य योद्धाओंको देखनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णको दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेकी आज्ञा दी थी, वे ही कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त कायरतासे युक्त हो जाते हैं!

दोनों ही सेनाओंमें जन्मके और विद्याके सम्बन्धी-ही-सम्बन्धी देखनेसे अर्जुनके मनमें यह विचार आया कि युद्धमें चाहे इस पक्षके लोग मरें, चाहे उस पक्षके लोग मरें, नुकसान हमारा ही होगा, कुल तो हमारा ही नष्ट होगा, सम्बन्धी तो हमारे ही मारे जायँगे! ऐसा विचार आनेसे अर्जुनकी युद्धकी इच्छा तो मिट गयी और भीतरमें कायरता आ गयी। इस कायरताको भगवान्ने आगे (२।२-३ में) ‘कश्मलम्’ तथा ‘हृदयदौर्बल्यम्’ कहा है, और अर्जुनने (२।७ में) ‘कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः’ कहकर इसको स्वीकार भी किया है।

अर्जुन कायरतासे आविष्ट हुए हैं—‘कृपयाविष्टः’। इससे सिद्ध होता है कि यह कायरता पहले नहीं थी, प्रत्युत अभी आयी है। अतः यह आगन्तुक दोष है। आगन्तुक होनेसे यह ठहरेगी नहीं। परन्तु शूरवीरता अर्जुनमें स्वाभाविक है; अतः वह तो रहेगी ही।

अत्यन्त कायरता क्या है? बिना किसी कारण निन्दा, तिरस्कार, अपमान करनेवाले, दुःख देनेवाले, वैरभाव रखनेवाले, नाश करनेकी चेष्टा करनेवाले दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि आदिको अपने सामने युद्ध करनेके लिये खड़े देखकर भी उनको मारनेका विचार न होना, उनका नाश करनेका उद्योग न करना—यह अत्यन्त कायरतारूप दोष है। यहाँ अर्जुनको कायरतारूप दोषने ऐसा घेर लिया है कि जो अर्जुन आदिका अनिष्ट चाहनेवाले और समय-समयपर अनिष्ट करनेका उद्योग करनेवाले हैं, उन अधर्मियों— पापियोंपर भी अर्जुनको करुणा आ रही है (गीता—पहले अध्यायका पैंतीसवाँ और छियालीसवाँ श्लोक) और वे क्षत्रियके कर्तव्यरूप अपने धर्मसे च्युत हो रहे हैं।

‘विषीदन्निदमब्रवीत्’—युद्धके परिणाममें कुटुम्बकी, कुलकी, देशकी क्या दशा होगी—इसको लेकर अर्जुन बहुत दुःखी हो रहे हैं और उस अवस्थामें वे ये वचन बोलते हैं, जिसका वर्णन आगेके श्लोकोंमें किया गया है।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥  
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।  
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥  
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।  
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	= हे कृष्ण!	मम	= मेरे	मे	= मेरे
युयुत्सुम्	= युद्धकी इच्छावाले	गात्राणि	= अंग	शरीरे	= शरीरमें
इमम्	= इस	सीदन्ति	= शिथिल हो रहे हैं	वेपथुः	= कँपकँपी (आ रही है)
स्वजनम्	= कुटुम्ब-समुदायको	च	= और	च	= एवं
समुपस्थितम्	= अपने सामने उपस्थित	मुखम्	= मुख	रोमहर्षः	= रोंगटे खड़े
दृष्ट्वा	= देखकर	परिशुष्यति	= सूख रहा है	जायते	= हो रहे हैं।
		च	= तथा		



हस्तात्	= हाथसे	एव	= भी	रहा है	
गाण्डीवम्	= गाण्डीव धनुष	परिदह्यते	= जल रही है।	च	= और (मैं)
स्त्रंसते	= गिर रहा है	मे	= मेरा	अवस्थातुम्	= खड़े रहनेमें
च	= और	मनः	= मन	च	= भी
त्वक्	= त्वचा	भ्रमति, इव	= भ्रमित-सा हो	न, शक्नोमि	= असमर्थ हो रहा हूँ।

व्याख्या—‘दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्’— अर्जुनको ‘कृष्ण’ नाम बहुत प्रिय था। यह सम्बोधन गीतामें नौ बार आया है। भगवान् श्रीकृष्णके लिये दूसरा कोई सम्बोधन इतनी बार नहीं आया है। ऐसे ही भगवान्को अर्जुनका ‘पार्थ’ नाम बहुत प्यारा था। इसलिये भगवान् और अर्जुन आपसकी बोलचालमें ये नाम लिया करते थे और यह बात लोगोंमें भी प्रसिद्ध थी। इसी दृष्टिसे संजयने गीताके अन्तमें ‘कृष्ण’ और ‘पार्थ’ नामका उल्लेख किया है—‘यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः’ (१८। ७८)।

धृतराष्ट्रने पहले ‘समवेता युयुत्सवः’ कहा था और यहाँ अर्जुनने भी ‘युयुत्सुं समुपस्थितम्’ कहा है; परन्तु दोनोंकी दृष्टियोंमें बड़ा अन्तर है। धृतराष्ट्रकी दृष्टिमें तो दुर्योधन आदि मेरे पुत्र हैं और युधिष्ठिर आदि पाण्डुके पुत्र हैं—ऐसा भेद है; अतः धृतराष्ट्रने वहाँ ‘मामकाः’ और ‘पाण्डवाः’ कहा है। परन्तु अर्जुनकी दृष्टिमें यह भेद नहीं है; अतः अर्जुनने यहाँ ‘स्वजनम्’ कहा है, जिसमें दोनों पक्षके लोग आ जाते हैं। तात्पर्य है कि धृतराष्ट्रको तो युद्धमें अपने पुत्रोंके मरनेकी आशंकासे भय है, शोक है; परन्तु अर्जुनको दोनों ओरके कुटुम्बियोंके मरनेकी आशंकासे शोक हो रहा है कि किसी भी तरफका कोई भी मरे, पर वह है तो हमारा ही कुटुम्बी।

अबतक ‘दृष्ट्वा’ पद तीन बार आया है—‘दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्’ (१। २), ‘व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्’ (१। २०) और यहाँ ‘दृष्ट्वेमं स्वजनम्’

(१। २८)। इन तीनोंका तात्पर्य है कि दुर्योधनका देखना तो एक तरहका ही रहा अर्थात् दुर्योधनका तो युद्धका ही एक भाव रहा; परन्तु अर्जुनका देखना दो तरहका हुआ। पहले तो अर्जुन धृतराष्ट्रके पुत्रोंको देखकर वीरतामें आकर युद्धके लिये धनुष उठाकर खड़े हो जाते हैं और अब स्वजनोंको देखकर कायरतासे आविष्ट हो रहे हैं, युद्धसे उपरत हो रहे हैं और उनके हाथसे धनुष गिर रहा है।

‘सीदन्ति मम गात्राणि’...भ्रमतीव च मे मनः— अर्जुनके मनमें युद्धके भावी परिणामको लेकर चिन्ता हो रही है, दुःख हो रहा है। उस चिन्ता, दुःखका असर अर्जुनके सारे शरीरपर पड़ रहा है। उसी असरको अर्जुन स्पष्ट शब्दोंमें कह रहे हैं कि मेरे शरीरका हाथ, पैर, मुख आदि एक-एक अंग (अवयव) शिथिल हो रहा है! मुख सूखता जा रहा है, जिससे बोलना भी कठिन हो रहा है! सारा शरीर थर-थर काँप रहा है! शरीरके सभी रोंगटे खड़े हो रहे हैं अर्थात् सारा शरीर रोमांचित हो रहा है! जिस गाण्डीव धनुषकी प्रत्यंचाकी टंकारसे शत्रु भयभीत हो जाते हैं, वही गाण्डीव धनुष आज मेरे हाथसे गिर रहा है! त्वचामें—सारे शरीरमें जलन हो रही है\*। मेरा मन भ्रमित हो रहा है अर्थात् मेरेको क्या करना चाहिये—यह भी नहीं सूझ रहा है! यहाँ युद्धभूमिमें रथपर खड़े रहनेमें भी मैं असमर्थ हो रहा हूँ! ऐसा लगता है कि मैं मूर्च्छित होकर गिर पड़ूँगा! ऐसे अनर्थकारक युद्धमें खड़ा रहना भी एक पाप मालूम दे रहा है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अपने शरीरके शोकजनित आठ चिह्नोंका वर्णन करके अब अर्जुन भावी परिणामके सूचक शकुनोंकी दृष्टिसे युद्ध करनेका अनौचित्य बताते हैं।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

\* चिन्ता चितासमा ह्युक्ता बिन्दुमात्रं विशेषतः। सजीवं दहते चिन्ता निर्जीवं दहते चिता ॥  
‘चिन्ताको चिताके समान कहा गया है, केवल एक बिन्दुकी ही अधिकता है। चिन्ता जीवित पुरुषको जलाती है और चिता मरे हुए पुरुषको जलाती है।’

केशव	= हे केशव! (मैं)	विपरीतानि	= विपरीत	हत्वा	= मारकर
निमित्तानि	= लक्षणों (शकुनों)-को	पश्यामि	= देख रहा हूँ (और)	श्रेयः	= श्रेय (लाभ)
च	= भी	आहवे	= युद्धमें	च	= भी
		स्वजनम्	= स्वजनोंको	न	= नहीं
				अनुपश्यामि	= देख रहा हूँ।

व्याख्या—‘निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव’—हे केशव! मैं शकुनोंको<sup>१</sup> भी विपरीत ही देख रहा हूँ। तात्पर्य है कि किसी भी कार्यके आरम्भमें मनमें जितना अधिक उत्साह (हर्ष) होता है, वह उत्साह उस कार्यको उतना ही सिद्ध करनेवाला होता है। परन्तु अगर कार्यके आरम्भमें ही उत्साह भंग हो जाता है, मनमें संकल्प-विकल्प ठीक नहीं होते, तो उस कार्यका परिणाम अच्छा नहीं होता। इसी भावसे अर्जुन कह रहे हैं कि अभी मेरे शरीरमें अवयवोंका शिथिल होना, कम्प होना, मुखका सूखना आदि जो लक्षण हो रहे हैं, ये व्यक्तिगत शकुन भी ठीक नहीं हो रहे हैं<sup>२</sup>। इसके सिवाय आकाशसे उल्कापात होना, असमयमें ग्रहण लगना, भूकम्प होना, पशु-पक्षियोंका भयंकर बोली बोलना, चन्द्रमाके काले चिह्नका मिट-सा जाना, बादलोंसे रक्तकी वर्षा होना आदि जो पहले शकुन हुए हैं, वे भी ठीक नहीं हुए हैं। इस तरह अभीके और

पहलेके—इन दोनों शकुनोंकी ओर देखता हूँ, तो मेरेको ये दोनों ही शकुन विपरीत अर्थात् भावी अनिष्टके सूचक दीखते हैं।

‘न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे’—युद्धमें अपने कुटुम्बियोंको मारनेसे हमें कोई लाभ होगा—ऐसी बात भी नहीं है। इस युद्धके परिणाममें हमारे लिये लोक और परलोक—दोनों ही हितकारक नहीं दीखते। कारण कि जो अपने कुलका नाश करता है, वह अत्यन्त पापी होता है। अतः कुलका नाश करनेसे हमें पाप ही लगेगा, जिससे नरकोंकी प्राप्ति होगी।

इस श्लोकमें ‘निमित्तानि पश्यामि’ और ‘श्रेयः अनुपश्यामि’<sup>३</sup>—इन दोनों वाक्योंसे अर्जुन यह कहना चाहते हैं कि मैं शकुनोंको देखूँ अथवा स्वयं विचार करूँ, दोनों ही रीतिसे युद्धका आरम्भ और उसका परिणाम हमारे लिये और संसारमात्रके लिये हितकारक नहीं दीखता।

सम्बन्ध—जिसमें न तो शुभ शकुन दीखते हैं और न श्रेय ही दीखता है, ऐसी अनिष्टकारक विजयको प्राप्त करनेकी अनिच्छा अर्जुन आगेके श्लोकमें प्रकट करते हैं।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।  
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

कृष्ण	= हे कृष्ण! (मैं)	च	= और	राज्येन	= राज्यसे
न	= न (तो)	न	= न	किम्	= क्या लाभ ?
विजयम्	= विजय	सुखानि	= (न) सुखोंको (ही) चाहता हूँ।	भोगैः	= भोगोंसे (क्या लाभ?)
काङ्क्षे	= चाहता हूँ,	गोविन्द	= हे गोविन्द!	वा	= अथवा
न	= न	नः	= हमलोगोंको	जीवितेन	= जीनेसे (भी)
राज्यम्	= राज्य (चाहता हूँ)			किम्	= क्या लाभ ?

१-जितने भी शकुन होते हैं, वे किसी अच्छी या बुरी घटनाके होनेमें निमित्त नहीं होते अर्थात् वे किसी घटनाके निर्माता नहीं होते, प्रत्युत भावी घटनाकी सूचना देनेवाले होते हैं।

शकुन बतानेवाले प्राणी भी वास्तवमें शकुनोंको बताते नहीं हैं; किन्तु उनकी स्वाभाविक चेष्टासे शकुन सूचित होते हैं।

२-यद्यपि अर्जुन शरीरमें होनेवाले लक्षणोंको भी शकुन मान रहे हैं, तथापि वास्तवमें ये शकुन नहीं हैं। ये तो शोकके कारण इन्द्रियाँ, शरीर, मन, बुद्धिमें होनेवाले विकार हैं।

३-यहाँ ‘पश्यामि’ क्रिया भूत और वर्तमानके शकुनोंके विषयमें और ‘अनुपश्यामि’ क्रिया भविष्यके परिणामके विषयमें आयी है।

व्याख्या—‘न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च’—मान लें कि युद्धमें हमारी विजय हो जाय, तो विजय होनेसे पूरी पृथ्वीपर हमारा राज्य हो जायगा, अधिकार हो जायगा। पृथ्वीका राज्य मिलनेसे हमें अनेक प्रकारके सुख मिलेंगे। परन्तु इनमेंसे मैं कुछ भी नहीं चाहता अर्थात् मेरे मनमें विजय, राज्य एवं सुखोंकी कामना नहीं है।

‘किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा’—जब हमारे मनमें किसी प्रकारकी (विजय, राज्य और सुखकी) कामना ही नहीं है, तो फिर कितना ही बड़ा राज्य क्यों न मिल जाय, पर उससे हमें क्या लाभ? कितने ही सुन्दर-सुन्दर भोग मिल जायँ, पर उनसे हमें क्या लाभ?

अथवा कुटुम्बियोंको मारकर हम राज्यके सुख भोगते हुए कितने ही वर्ष जीते रहें, पर उससे भी हमें क्या लाभ? तात्पर्य है कि ये विजय, राज्य और भोग तभी सुख दे सकते हैं, जब भीतरमें इनकी कामना हो, प्रियता हो, महत्त्व हो। परन्तु हमारे भीतर तो इनकी कामना ही नहीं है। अतः ये हमें क्या सुख दे सकते हैं? इन कुटुम्बियोंको मारकर हमारी जीनेकी भी इच्छा नहीं है; क्योंकि जब हमारे कुटुम्बी मर जायँगे, तब ये राज्य और भोग किसके काम आयेंगे? राज्य, भोग आदि तो कुटुम्बके लिये होते हैं, पर जब ये ही मर जायँगे, तब इनको कौन भोगेगा? भोगनेकी बात तो दूर रही, उलटे हमें और अधिक चिन्ता, शोक होंगे!

सम्बन्ध—अर्जुन विजय आदि क्यों नहीं चाहते, इसका हेतु आगेके श्लोकमें बताते हैं।

**येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।**

**त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥**

येषाम्	= जिनके	सुखानि	= सुखकी	च	= और
अर्थे	= लिये	काङ्क्षितम्	= इच्छा है,	धनानि	= धनकी
नः	= हमारी	ते	= वे (ही)		आशाका
राज्यम्	= राज्य,	इमे	= ये सब	त्यक्त्वा	= त्याग करके
भोगाः	= भोग		(अपने)	युद्धे	= युद्धमें
च	= और	प्राणान्	= प्राणोंकी	अवस्थिताः	= खड़े हैं।

व्याख्या—‘येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च’—हम राज्य, सुख, भोग आदि जो कुछ चाहते हैं, उनको अपने व्यक्तिगत सुखके लिये नहीं चाहते, प्रत्युत इन कुटुम्बियों, प्रेमियों, मित्रों आदिके लिये ही चाहते हैं। आचार्यों, पिताओं, पितामहों, पुत्रों आदिको सुख-आराम पहुँचे, इनकी सेवा हो जाय, ये प्रसन्न रहें—इसके लिये ही हम युद्ध करके राज्य लेना चाहते हैं, भोग-सामग्री इकट्ठी करना चाहते हैं।

‘त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च’—पर वे ही ये सब-के-सब अपने प्राणोंकी और धनकी आशाको छोड़कर युद्ध करनेके लिये हमारे सामने इस रणभूमिमें खड़े हैं। इन्होंने ऐसा विचार कर लिया है कि

हमें न प्राणोंका मोह है और न धनकी तृष्णा है; हम मर बेशक जायँ, पर युद्धसे नहीं हटेंगे। अगर ये सब मर ही जायँगे, तो फिर हमें राज्य किसके लिये चाहिये? सुख किसके लिये चाहिये? धन किसके लिये चाहिये? अर्थात् इन सबकी इच्छा हम किसके लिये करें?

‘प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च’का तात्पर्य है कि वे प्राणोंकी और धनकी आशाका त्याग करके खड़े हैं अर्थात् हम जीवित रहेंगे और हमें धन मिलेगा—इस इच्छाको छोड़कर वे खड़े हैं। अगर उनमें प्राणोंकी और धनकी इच्छा होती, तो वे मरनेके लिये युद्धमें क्यों खड़े होते? अतः यहाँ प्राण और धनका त्याग करनेका तात्पर्य उनकी आशाका त्याग करनेमें ही है।

सम्बन्ध—जिनके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे लोग कौन हैं—इसका वर्णन अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

**आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।**

**मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥**

## एतान् हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन। अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

आचार्याः <sup>१</sup>	= आचार्य,	तथा	= तथा (अन्य जितने भी)	मधुसूदन	= हे मधुसूदन! (मुझे)
पितरः	= पिता,	सम्बन्धिनः	= सम्बन्धी हैं, (मुझपर)	त्रैलोक्य-	
पुत्राः	= पुत्र	घ्नतः	= प्रहार करनेपर	राज्यस्य	= त्रिलोकीका राज्य
च	= और	अपि	= भी (मैं)	हेतोः	= मिलता हो
तथा, एव	= उसी प्रकार	एतान्	= इनको	अपि	= तो भी (मैं इनको मारना नहीं चाहता),
पितामहाः	= पितामह,	हन्तुम्	= मारना	नु	= फिर
मातुलाः	= मामा,	न	= नहीं	महीकृते	= पृथ्वीके लिये तो (मैं इनको मारूँ ही)
श्वशुराः	= ससुर,	इच्छामि	= चाहता, (और)	किम्	= क्या ?
पौत्राः	= पौत्र,				
श्यालाः	= साले				

व्याख्या—[ भगवान् आगे सोलहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें कहेंगे कि काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों ही नरकके द्वार हैं। वास्तवमें एक कामके ही ये तीन रूप हैं। ये तीनों सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों आदिको महत्त्व देनेसे पैदा होते हैं। काम अर्थात् कामनाकी दो तरहकी क्रियाएँ होती हैं—इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति। इनमेंसे इष्टकी प्राप्ति भी दो तरहकी होती है—संग्रह करना और सुख भोगना। संग्रहकी इच्छाका नाम 'लोभ' है और सुखभोगकी इच्छाका नाम 'काम' है। अनिष्टकी निवृत्तिमें बाधा पड़नेपर 'क्रोध' आता है अर्थात् भोगोंकी, संग्रहकी प्राप्तिमें बाधा देनेवालोंपर अथवा हमारा अनिष्ट करनेवालोंपर, हमारे शरीरका नाश करनेवालोंपर क्रोध आता है, जिससे अनिष्ट करनेवालोंका नाश करनेकी क्रिया होती है। इससे सिद्ध हुआ कि युद्धमें मनुष्यकी दो तरहसे ही प्रवृत्ति होती है—अनिष्टकी निवृत्तिके लिये अर्थात् अपने 'क्रोध' को सफल बनानेके लिये और इष्टकी प्राप्तिके लिये अर्थात् 'लोभ'की पूर्तिके लिये। परन्तु अर्जुन यहाँ इन दोनों ही बातोंका निषेध कर रहे हैं। ]

'आचार्याः पितरः ..... किं नु महीकृते'—अगर हमारे ये कुटुम्बीजन अपनी अनिष्ट-निवृत्तिके लिये क्रोधमें आकर मेरेपर प्रहार करके मेरा वध भी करना चाहें, तो भी मैं

अपनी अनिष्ट-निवृत्तिके लिये क्रोधमें आकर इनको मारना नहीं चाहता। अगर ये अपनी इष्टप्राप्तिके लिये राज्यके लोभमें आकर मेरेको मारना चाहें, तो भी मैं अपनी इष्ट-प्राप्तिके लिये लोभमें आकर इनको मारना नहीं चाहता। तात्पर्य यह हुआ कि क्रोध और लोभमें आकर मेरेको नरकोंका दरवाजा मोल नहीं लेना है।

यहाँ दो बार 'अपि' पदका प्रयोग करनेमें अर्जुनका आशय यह है कि मैं इनके स्वार्थमें बाधा ही नहीं देता तो ये मुझे मारेंगे ही क्यों? पर मान लो कि 'पहले इसने हमारे स्वार्थमें बाधा दी है' ऐसे विचारसे ये मेरे शरीरका नाश करनेमें प्रवृत्त हो जायँ, तो भी (घ्नतोऽपि) मैं इनको मारना नहीं चाहता। दूसरी बात, इनको मारनेसे मुझे त्रिलोकीका राज्य मिल जाय, यह तो सम्भावना ही नहीं है, पर मान लो कि इनको मारनेसे मुझे त्रिलोकीका राज्य मिलता हो, तो भी (अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः) मैं इनको मारना नहीं चाहता।

'मधुसूदन'<sup>२</sup> सम्बोधनका तात्पर्य है कि आप तो दैत्योंको मारनेवाले हैं, पर ये द्रोण आदि आचार्य और भीष्म आदि पितामह दैत्य थोड़े ही हैं, जिससे मैं इनको मारनेकी इच्छा करूँ? ये तो हमारे अत्यन्त नजदीकके खास सम्बन्धी हैं।

'आचार्याः'—इन कुटुम्बियोंमें जिन द्रोणाचार्य आदिसे

१-छब्बीसवें श्लोकमें 'पितृन्थ पितामहान् .....' कहकर सबसे पहले पिताओं और पितामहोंका नाम लिया गया है, और यहाँ 'आचार्याः पितरः.....' कहकर सबसे पहले आचार्योंका नाम लिया गया है। इसका तात्पर्य है कि वहाँ तो कौटुम्बिक स्नेहकी मुख्यता है, इसलिये वहाँ पिताका नाम सबसे पहले लिया है; और यहाँ न मारनेका विषय चल रहा है, इसलिये यहाँ सबसे पहले आदरणीय पूज्य आचार्यों—गुरुजनोंका नाम लिया है, जो कि जीवके परम हितैषी होते हैं।

२-'मधु' नामक दैत्यको मारनेके कारण भगवान्का नाम 'मधुसूदन' पड़ा था।

हमारा विद्याका, हितका सम्बन्ध है, ऐसे पूज्य आचार्योंकी मेरेको सेवा करनी चाहिये कि उनके साथ लड़ाई करनी चाहिये? आचार्यके चरणोंमें तो अपने-आपको, अपने प्राणोंको भी समर्पित कर देना चाहिये। यही हमारे लिये उचित है।

‘पितरः’—शरीरके सम्बन्धको लेकर जो पितालोग हैं, उनका ही तो रूप यह हमारा शरीर है। शरीरसे उनके स्वरूप होकर हम क्रोध या लोभमें आकर अपने उन पिताओंको कैसे मारें?

‘पुत्राः’—हमारे और हमारे भाइयोंके जो पुत्र हैं, वे तो सर्वथा पालन करनेयोग्य हैं। वे हमारे विपरीत कोई क्रिया भी कर बैठें, तो भी उनका पालन करना ही हमारा धर्म है।

‘पितामहाः’—ऐसे ही जो पितामह हैं, वे जब हमारे पिताजीके भी पूज्य हैं, तब हमारे लिये तो परमपूज्य हैं ही। वे हमारी ताड़ना कर सकते हैं, हमें मार भी सकते हैं। पर हमारी तो ऐसी ही चेष्टा होनी चाहिये, जिससे उनको किसी तरहका दुःख न हो, कष्ट न हो, प्रत्युत

उनको सुख हो, आराम हो, उनकी सेवा हो।

‘मातुलाः’—हमारे जो मामालोग हैं, वे हमारा पालन-पोषण करनेवाली माताओंके ही भाई हैं। अतः वे माताओंके समान ही पूज्य होने चाहिये।

‘श्वशुराः’—ये जो हमारे ससुर हैं, ये मेरी और मेरे भाइयोंकी पत्नियोंके पूज्य पिताजी हैं। अतः ये हमारे लिये भी पिताके ही तुल्य हैं। इनको मैं कैसे मारना चाहूँ?

‘पौत्राः’—हमारे पुत्रोंके जो पुत्र हैं, वे तो पुत्रोंसे भी अधिक पालन-पोषण करनेयोग्य हैं।

‘श्यालाः’—हमारे जो साले हैं, वे भी हमलोगोंकी पत्नियोंके प्यारे भैया हैं। उनको भी कैसे मारा जाय!

‘सम्बन्धिनः’—ये जितने सम्बन्धी दीख रहे हैं और इनके अतिरिक्त जितने भी सम्बन्धी हैं, उनका पालन-पोषण, सेवा करनी चाहिये कि उनको मारना चाहिये? इनको मारनेसे अगर हमें त्रिलोकीका राज्य भी मिल जाय, तो भी क्या इनको मारना उचित है? इनको मारना तो सर्वथा अनुचित है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने स्वजनोंको न मारनेमें दो हेतु बताये। अब परिणामकी दृष्टिसे भी स्वजनोंको न मारना सिद्ध करते हैं।

## निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।

### पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

जनार्दन	= हे जनार्दन! (इन)	का	= क्या	हत्वा	= मारनेसे तो
धार्तराष्ट्रान्	= धृतराष्ट्र- सम्बन्धियोंको	प्रीतिः	= प्रसन्नता	अस्मान्	= हमें
निहत्य	= मारकर	स्यात्	= होगी?	पापम्	= पाप
नः	= हमलोगोंको	एतान्	= इन	एव	= ही
		आततायिनः	= आततायियोंको	आश्रयेत्	= लगेगा।

व्याख्या—‘निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः ..... हत्वैतानाततायिनः’—धृतराष्ट्रके पुत्र और उनके सहयोगी दूसरे जितने भी सैनिक हैं, उनको मारकर विजय प्राप्त करनेसे हमें क्या प्रसन्नता होगी? अगर हम क्रोध अथवा लोभके वेगमें आकर इनको मार भी दें, तो उनका वेग शान्त होनेपर हमें रोना ही पड़ेगा अर्थात् क्रोध और लोभमें आकर हम क्या अनर्थ कर बैठे—ऐसा पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा। कुटुम्बियोंकी याद आनेपर उनका अभाव बार-बार खटकेगा। चित्तमें उनकी मृत्युका शोक सताता रहेगा। ऐसी स्थितिमें हमें कभी प्रसन्नता हो सकती है क्या? तात्पर्य है कि इनको मारनेसे हम

इस लोकमें जबतक जीते रहेंगे, तबतक हमारे चित्तमें कभी प्रसन्नता नहीं होगी और इनको मारनेसे हमें जो पाप लगेगा, वह परलोकमें हमें भयंकर दुःख देनेवाला होगा।

आततायी छः प्रकारके होते हैं—आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको तैयार हुआ, धनको हरनेवाला, जमीन (राज्य) छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला\*। दुर्योधन आदिमें ये छहों ही लक्षण घटते थे। उन्होंने पाण्डवोंको लाक्षागृहमें आग लगाकर मारना चाहा था। भीमसेनको जहर खिलाकर जलमें फेंक दिया था। हाथमें शस्त्र लेकर वे पाण्डवोंको मारनेके लिये तैयार थे

\* अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥ ( वसिष्ठस्मृति ३। १९ )

‘आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत हुआ, धनका हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं।’

ही। द्यूतक्रीडामें छल-कपट करके उन्होंने पाण्डवोंका धन और राज्य हर लिया था। द्रौपदीको भरी सभामें लाकर दुर्योधनने 'मैंने तेरेको जीत लिया है, तू मेरी दासी हो गयी है' आदि शब्दोंसे बड़ा अपमान किया था और दुर्योधनादिकी प्रेरणासे जयद्रथ द्रौपदीको हरकर ले गया था।

शास्त्रोंके वचनोंके अनुसार आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष (पाप) नहीं लगता—'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' (मनुस्मृति ८।३५१)। परन्तु आततायीको मारना उचित होते हुए भी मारनेकी क्रिया अच्छी नहीं है। शास्त्र भी कहता है कि मनुष्यको कभी किसीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये—'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि'; हिंसा न करना परमधर्म है—'अहिंसा परमो धर्मः\*।' अतः

क्रोध-लोभके वशीभूत होकर कुटुम्बियोंकी हिंसाका कार्य हम क्यों करें ?

आततायी होनेसे ये दुर्योधन आदि मारनेके लायक हैं ही; परन्तु अपने कुटुम्बी होनेसे इनको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा; क्योंकि शास्त्रोंमें कहा गया है कि जो अपने कुलका नाश करता है, वह अत्यन्त पापी होता है—'स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात्कुलनाशनम्।' अतः जो आततायी अपने खास कुटुम्बी हैं, उन्हें कैसे मारा जाय ? उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना, उनसे अलग हो जाना तो ठीक है, पर उन्हें मारना ठीक नहीं है। जैसे, अपना बेटा ही आततायी हो जाय तो उससे अपना सम्बन्ध हटाया जा सकता है, पर उसे मारा थोड़े ही जा सकता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें युद्धका दुष्परिणाम बताकर अब अर्जुन युद्ध करनेका सर्वथा अनौचित्य बताते हैं।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

तस्मात्	= इसलिये	वयम्	= हम	कुटुम्बियोंको	
स्वबान्धवान्	= अपने बान्धव (इन)	न, अर्हाः	= योग्य नहीं हैं;	हत्वा	= मारकर (हम)
धार्तराष्ट्रान्	= धृतराष्ट्र- सम्बन्धियोंको	हि	= क्योंकि	कथम्	= कैसे
हन्तुम्	= मारनेके लिये	माधव	= हे माधव!	सुखिनः	= सुखी
		स्वजनम्	= अपने	स्याम	= होंगे ?

व्याख्या—'तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्'—अभीतक (पहले अध्यायके अट्टाईसवें श्लोकसे लेकर यहाँतक) मैंने कुटुम्बियोंको न मारनेमें जितनी युक्तियाँ, दलीलें दी हैं, जितने विचार प्रकट किये हैं, उनके रहते हुए हम ऐसे अनर्थकारी कार्यमें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं ? अपने बान्धव इन धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको मारनेका कार्य हमारे लिये सर्वथा ही अयोग्य है, अनुचित है। हम-जैसे अच्छे पुरुष ऐसा अनुचित कार्य कर ही कैसे सकते हैं ?

'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव'—

हे माधव! इन कुटुम्बियोंके मरनेकी आशंकासे ही बड़ा दुःख हो रहा है, संताप हो रहा है, तो फिर क्रोध तथा लोभके वशीभूत होकर हम उनको मार दें तो कितना दुःख होगा! उनको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ?

यहाँ 'ये हमारे घनिष्ठ सम्बन्धी हैं'—इस ममताजनित मोहके कारण अपने क्षत्रियोचित कर्तव्यकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि ही नहीं जा रही है। कारण कि जहाँ मोह होता है, वहाँ मनुष्यका विवेक दब जाता है। विवेक दबनेसे मोहकी प्रबलता हो जाती है। मोहके प्रबल होनेसे अपने कर्तव्यका स्पष्ट भान नहीं होता।

\* आततायीको मार दे—यह अर्थशास्त्र है और किसीकी भी हिंसा न करे—यह धर्मशास्त्र है। जिसमें अपना कोई स्वार्थ (मतलब) रहता है, वह 'अर्थशास्त्र' कहलाता है; और जिसमें अपना कोई स्वार्थ नहीं रहता, वह 'धर्मशास्त्र' कहलाता है। अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् होता है। अतः शास्त्रोंमें जहाँ अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र—दोनोंमें विरोध आये, वहाँ अर्थशास्त्रका त्याग करके धर्मशास्त्रको ही ग्रहण करना चाहिये—

समृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः। अर्थशास्त्रात् बलवद्भर्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति २।२१)

सम्बन्ध—अब यहाँ यह शंका होती है कि जैसे तुम्हारे लिये दुर्योधन आदि स्वजन हैं, ऐसे ही दुर्योधन आदिके लिये भी तो तुम स्वजन हो। स्वजनकी दृष्टिसे तुम तो युद्धसे निवृत्त होनेकी बात सोच रहे हो, पर दुर्योधन आदि युद्धसे निवृत्त होनेकी बात ही नहीं सोच रहे हैं—इसका क्या कारण है? इसका उत्तर अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें देते हैं।

**यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।**

**कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥**

**कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।**

**कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥**

यद्यपि	= यद्यपि	च	= और	दोषम्	= दोषको
लोभोपहतचेतसः	= लोभके कारण जिनका विवेक-विचार लुप्त हो गया है, ऐसे	मित्रद्रोहे	= मित्रोंके साथ द्वेष करनेसे होनेवाले	प्रपश्यद्भिः	= ठीक-ठीक जाननेवाले
एते	= ये (दुर्योधन आदि)	पातकम्	= पापको	अस्मात्	= इस
कुलक्षयकृतम्	= कुलका नाश करनेसे होनेवाले	न	= नहीं	पापात्	= पापसे
दोषम्	= दोषको	पश्यन्ति	= देखते, (तो भी)	निवर्तितुम्	= निवृत्त होनेका
		जनार्दन	= हे जनार्दन!	ज्ञेयम्	= विचार
		कुलक्षयकृतम्	= कुलका नाश करनेसे होनेवाले	कथम्	= क्यों
				न	= न करें?

व्याख्या—‘यद्यप्येते न पश्यन्ति ..... मित्रद्रोहे च पातकम्’—इतना मिल गया, इतना और मिल जाय; फिर ऐसा मिलता ही रहे—ऐसे धन, जमीन, मकान, आदर, प्रशंसा, पद, अधिकार आदिकी तरफ बढ़ती हुई वृत्तिका नाम ‘लोभ’ है। इस लोभ-वृत्तिके कारण इन दुर्योधनादिकी विवेक-शक्ति लुप्त हो गयी है, जिससे वे यह विचार नहीं कर पा रहे हैं कि जिस राज्यके लिये हम इतना बड़ा पाप करने जा रहे हैं, कुटुम्बियोंका नाश करने जा रहे हैं, वह राज्य हमारे साथ कितने दिन रहेगा और हम उसके साथ कितने दिन रहेंगे ? हमारे रहते हुए यह राज्य चला जायगा तो हमारी क्या दशा होगी और राज्यके रहते हुए हमारे शरीर चले जायँगे तो क्या दशा होगी ? क्योंकि मनुष्य संयोगका जितना सुख लेता है, उसके वियोगका उतना दुःख उसे भोगना ही पड़ता है। संयोगमें इतना सुख नहीं होता, जितना वियोगमें दुःख होता है। तात्पर्य है कि अन्तःकरणमें लोभ छा जानेके कारण इनको राज्य-ही-राज्य दीख रहा है। कुलका नाश करनेसे कितना भयंकर पाप होगा, वह इनको दीख ही नहीं रहा है।

जहाँ लड़ाई होती है, वहाँ समय, सम्पत्ति, शक्तिका नाश हो जाता है। तरह-तरहकी चिन्ताएँ और आपत्तियाँ

आ जाती हैं। दो मित्रोंमें भी आपसमें खटपट मच जाती है, मनोमालिन्य हो जाता है। कई तरहका मतभेद हो जाता है। मतभेद होनेसे वैरभाव हो जाता है। जैसे द्रुपद और द्रोण—दोनों बचपनके मित्र थे। परन्तु राज्य मिलनेसे द्रुपदने एक दिन द्रोणका अपमान करके उस मित्रताको तुकरा दिया। इससे राजा द्रुपद और द्रोणाचार्यके बीच वैरभाव हो गया। अपने अपमानका बदला लेनेके लिये द्रोणाचार्यने मेरे द्वारा राजा द्रुपदको परास्त कराकर उसका आधा राज्य ले लिया। इसपर द्रुपदने द्रोणाचार्यका नाश करनेके लिये एक यज्ञ कराया, जिससे धृष्टद्युम्न और द्रौपदी—दोनों पैदा हुए। इस तरह मित्रोंके साथ वैरभाव होनेसे कितना भयंकर पाप होगा, इस तरफ ये देख ही नहीं रहे हैं!

### विशेष बात

अभी हमारे पास जिन वस्तुओंका अभाव है, उन वस्तुओंके बिना भी हमारा काम चल रहा है, हम अच्छी तरहसे जी रहे हैं। परन्तु जब वे वस्तुएँ हमें मिलनेके बाद फिर बिछुड़ जाती हैं, तब उनके अभावका बड़ा दुःख होता है। तात्पर्य है कि पहले वस्तुओंका जो निरन्तर अभाव था, वह इतना दुःखदायी नहीं था, जितना वस्तुओंका संयोग

होकर फिर उनसे वियोग होना दुःखदायी है। ऐसा होनेपर भी मनुष्य अपने पास जिन वस्तुओंका अभाव मानता है, उन वस्तुओंको वह लोभके कारण पानेकी चेष्टा करता रहता है। विचार किया जाय तो जिन वस्तुओंका अभी अभाव है, बीचमें प्रारब्धानुसार उनकी प्राप्ति होनेपर भी अन्तमें उनका अभाव ही रहेगा। अतः हमारी तो वही अवस्था रही, जो कि वस्तुओंके मिलनेसे पहले थी। बीचमें लोभके कारण उन वस्तुओंको पानेके लिये केवल परिश्रम-ही-परिश्रम पल्ले पड़ा, दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ा। बीचमें वस्तुओंके संयोगसे जो थोड़ा-सा सुख हुआ है, वह तो केवल लोभके कारण ही हुआ है। अगर भीतरमें लोभ-रूपी दोष न हो, तो वस्तुओंके संयोगसे सुख हो ही नहीं सकता। ऐसे ही मोहरूपी दोष न हो, तो कुटुम्बियोंसे सुख हो ही नहीं सकता। लालचरूपी दोष न हो, तो संग्रहका सुख हो ही नहीं सकता। तात्पर्य है कि संसारका सुख किसी-न-किसी दोषसे ही होता है। कोई भी दोष न होनेपर संसारसे सुख हो ही नहीं सकता। परन्तु लोभके कारण मनुष्य ऐसा विचार कर ही नहीं सकता। यह लोभ उसके विवेक-विचारको लुप्त कर देता है।

‘कथं न ज्ञेयमस्माभिः....प्रपश्यद्विर्जनार्दन’—अब अर्जुन अपनी बात कहते हैं कि यद्यपि दुर्योधनादि अपने कुलक्षयसे होनेवाले दोषको और मित्रद्रोहसे होनेवाले पापको नहीं देखते, तो भी हमलोगोंको कुलक्षयसे होनेवाली अनर्थ-परम्पराको देखना ही चाहिये [जिसका वर्णन अर्जुन आगे चालीसवें श्लोकसे चौवालीसवें श्लोकतक करेंगे]; क्योंकि हम कुलक्षयसे होनेवाले दोषोंको भी अच्छी तरहसे जानते हैं और मित्रोंके साथ द्रोह-(वैर,

द्वेष-) से होनेवाले पापको भी अच्छी तरहसे जानते हैं। अगर वे मित्र हमें दुःख दें, तो वह दुःख हमारे लिये अनिष्टकारक नहीं है। कारण कि दुःखसे तो हमारे पूर्वपापोंका ही नाश होगा, हमारी शुद्धि ही होगी। परन्तु हमारे मनमें अगर द्रोह—वैरभाव होगा, तो वह मरनेके बाद भी हमारे साथ रहेगा और जन्म-जन्मान्तरतक हमें पाप करनेमें प्रेरित करता रहेगा, जिससे हमारा पतन-ही-पतन होगा। ऐसे अनर्थ करनेवाले और मित्रोंके साथ द्रोह पैदा करनेवाले इस युद्धरूपी पापसे बचनेका विचार क्यों नहीं करना चाहिये? अर्थात् विचार करके हमें इस पापसे जरूर ही बचना चाहिये।

यहाँ अर्जुनकी दृष्टि दुर्योधन आदिके लोभकी तरफ तो जा रही है, पर वे खुद कौटुम्बिक स्नेह-(मोह-) में आबद्ध होकर बोल रहे हैं— इस तरफ उनकी दृष्टि नहीं जा रही है। इस कारण वे अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहे हैं। यह नियम है कि मनुष्यकी दृष्टि जबतक दूसरोंके दोषकी तरफ रहती है, तबतक उसको अपना दोष नहीं दीखता, उलटे एक अभिमान होता है कि इनमें तो यह दोष है, पर हमारेमें यह दोष नहीं है। ऐसी अवस्थामें वह यह सोच ही नहीं सकता कि अगर इनमें कोई दोष है तो हमारेमें भी कोई दूसरा दोष हो सकता है। दूसरा दोष यदि न भी हो, तो भी दूसरोंका दोष देखना—यह दोष तो है ही। दूसरोंका दोष देखना एवं अपनेमें अच्छाईका अभिमान करना—ये दोनों दोष साथमें ही रहते हैं। अर्जुनको भी दुर्योधन आदिमें दोष दीख रहे हैं और अपनेमें अच्छाईका अभिमान हो रहा है (अच्छाईके अभिमानकी छायामें मात्र दोष रहते हैं), इसलिये उनको अपनेमें मोहरूपी दोष नहीं दीख रहा है।

सम्बन्ध—कुलका क्षय करनेसे होनेवाले जिन दोषोंको हम जानते हैं, वे दोष कौन-से हैं? उन दोषोंकी परम्परा आगेके पाँच श्लोकोंमें बताते हैं।

**कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।**

**धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥**

कुलक्षये	= कुलका क्षय होनेपर	उत	= और	कृत्स्नम्	= सम्पूर्ण
सनातनाः	= सदासे चलते आये	धर्मे	= धर्मका	कुलम्	= कुलको
कुलधर्माः	= कुलधर्म	नष्टे	= नाश होनेपर (बचे हुए)	अधर्मः	= अधर्म
प्रणश्यन्ति	= नष्ट हो जाते हैं			अभिभवति	= दबा लेता है।



**व्याख्या—**‘कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः’—जब युद्ध होता है, तब उसमें कुल-(वंश-) का क्षय (ह्रास) होता है। जबसे कुल आरम्भ हुआ है, तभीसे कुलके धर्म अर्थात् कुलकी पवित्र परम्पराएँ, पवित्र रीतियाँ, मर्यादाएँ भी परम्परासे चलती आयी हैं। परन्तु जब कुलका क्षय हो जाता है, तब सदासे कुलके साथ रहनेवाले धर्म भी नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जन्मके समय, द्विजाति-संस्कारके समय, विवाहके समय, मृत्युके समय और मृत्युके बाद किये जानेवाले जो-जो शास्त्रीय पवित्र रीति-रिवाज हैं, जो कि जीवित और मृतात्मा मनुष्योंके लिये इस लोकमें और परलोकमें कल्याण करनेवाले हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। कारण कि जब कुलका ही नाश हो जाता है, तब कुलके आश्रित रहनेवाले धर्म किसके आश्रित रहेंगे ?

‘धर्मो नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत’—जब कुलकी पवित्र मर्यादाएँ, पवित्र आचरण नष्ट हो जाते हैं, तब धर्मका पालन न करना और धर्मसे विपरीत काम

करना अर्थात् करनेलायक कामको न करना और न करनेलायक कामको करनारूप अधर्म सम्पूर्ण कुलको दबा लेता है अर्थात् सम्पूर्ण कुलमें अधर्म छा जाता है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि जब कुल नष्ट हो जायगा, कुल रहेगा ही नहीं, तब अधर्म किसको दबायेगा ? इसका उत्तर यह है कि जो लड़ाईके योग्य पुरुष हैं, वे तो युद्धमें मारे जाते हैं; किन्तु जो लड़ाईके योग्य नहीं हैं, ऐसे जो बालक और स्त्रियाँ पीछे बच जाती हैं, उनको अधर्म दबा लेता है। कारण कि जब युद्धमें शस्त्र, शास्त्र, व्यवहार आदिके जानकार और अनुभवी पुरुष मर जाते हैं, तब पीछे बचे लोगोंको अच्छी शिक्षा देनेवाले, उनपर शासन करनेवाले नहीं रहते। इससे मर्यादाका, व्यवहारका ज्ञान न होनेसे वे मनमाना आचरण करने लग जाते हैं अर्थात् वे करनेलायक कामको तो करते नहीं और न करनेलायक कामको करने लग जाते हैं। इसलिये उनमें अधर्म फैल जाता है।

## अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।

### स्त्रीषु दुष्टासु वाष्ण्यं जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥

कृष्ण	= हे कृष्ण !	प्रदुष्यन्ति	= दूषित हो जाती हैं (और)	दुष्टासु	= दूषित होनेपर
अधर्माभिभवात्	= अधर्मके अधिक बढ़ जानेसे	वाष्ण्यं	= हे वाष्ण्य !	वर्णसङ्करः	= वर्णसंकर
कुलस्त्रियः	= कुलकी स्त्रियाँ	स्त्रीषु	= स्त्रियोंके	जायते	= पैदा हो जाते हैं।

**व्याख्या—**‘अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः’—धर्मका पालन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेसे बुद्धि सात्त्विकी बन जाती है। सात्त्विकी बुद्धिमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसका विवेक जाग्रत् रहता है। परन्तु जब कुलमें अधर्म बढ़ जाता है, तब आचरण अशुद्ध होने लगते हैं, जिससे अन्तःकरण अशुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण अशुद्ध होनेसे बुद्धि तामसी बन जाती है। बुद्धि तामसी होनेसे मनुष्य अकर्तव्यको कर्तव्य और कर्तव्यको अकर्तव्य मानने लग जाता है अर्थात् उसमें शास्त्र-मर्यादासे उलटी बातें पैदा होने लग जाती हैं। इस विपरीत बुद्धिसे कुलकी स्त्रियाँ दूषित अर्थात् व्यभिचारिणी हो जाती हैं।

‘स्त्रीषु दुष्टासु वाष्ण्यं जायते वर्णसङ्करः’—स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर पैदा हो जाता है\*। पुरुष और स्त्री—दोनों अलग-अलग वर्णके होनेपर उनसे जो संतान पैदा होती है, वह ‘वर्णसंकर’ कहलाती है।

अर्जुन यहाँ ‘कृष्ण’ सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप सबको खींचनेवाले होनेसे ‘कृष्ण’ कहलाते हैं, तो आप यह बतायें कि हमारे कुलको आप किस तरफ खींचेंगे अर्थात् किधर ले जायेंगे ?

‘वाष्ण्यं’ सम्बोधन देनेका भाव है कि आप वृष्णिवंशमें अवतार लेनेके कारण ‘वाष्ण्यं’ कहलाते हैं। परन्तु जब हमारे कुल-(वंश-) का नाश हो जायगा, तब हमारे वंशज किस कुलके कहलायेंगे ? अतः कुलका नाश करना उचित नहीं है।

\* परस्पर विरुद्ध धर्मोंका मिश्रण होकर जो बनता है, उसको ‘संकर’ कहते हैं। जब कर्तव्यका पालन नहीं होता, तब धर्मसंकर, वर्णसंकर, जातिसंकर, कुलसंकर, वेशसंकर, भाषासंकर, आहारसंकर आदि अनेक संकरदोष आ जाते हैं।

## सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च । पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

सङ्करः	= वर्णसंकर	जानेवाला	एषाम्	= इन (कुलघातियों)-के
कुलघ्नानाम्	= कुलघातियोंको	एव	पितरः	= पितर
च	= और	लुप्तपिण्डोदकक्रियाः	हि	= भी (अपने
कुलस्य	= कुलको	और तर्पण न		स्थानसे)
नरकाय	= नरकमें ले	मिलनेसे	पतन्ति	= गिर जाते हैं।

व्याख्या—‘सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च’—वर्ण-मिश्रणसे पैदा हुए वर्णसंकर-(सन्तान-) में धार्मिक बुद्धि नहीं होती। वह मर्यादाओंका पालन नहीं करता; क्योंकि वह खुद बिना मर्यादासे पैदा हुआ है। इसलिये उसके खुदके कुलधर्म न होनेसे वह उनका पालन नहीं करता, प्रत्युत कुलधर्म अर्थात् कुलमर्यादासे विरुद्ध आचरण करता है।

जिन्होंने युद्धमें अपने कुलका संहार कर दिया है, उनको ‘कुलघाती’ कहते हैं। वर्णसंकर ऐसे कुलघातियोंको नरकोंमें ले जाता है। केवल कुलघातियोंको ही नहीं, प्रत्युत कुल-परम्परा नष्ट होनेसे सम्पूर्ण कुलको भी वह नरकोंमें ले जाता है।

‘पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः’—जिन्होंने अपने कुलका नाश कर दिया है, ऐसे इन कुलघातियोंके पितरोंको वर्णसंकरके द्वारा पिण्ड और पानी (श्राद्ध और

तर्पण) न मिलनेसे उन पितरोंका पतन हो जाता है। कारण कि जब पितरोंको पिण्ड-पानी मिलता रहता है, तब वे उस पुण्यके प्रभावसे ऊँचे लोकोंमें रहते हैं। परन्तु जब उनको पिण्ड-पानी मिलना बन्द हो जाता है, तब उनका वहाँसे पतन हो जाता है अर्थात् उनकी स्थिति उन लोकोंमें नहीं रहती।

पितरोंको पिण्ड-पानी न मिलनेमें कारण यह है कि वर्णसंकरकी पूर्वजोंके प्रति आदर-बुद्धि नहीं होती। इस कारण उनमें पितरोंके लिये श्राद्ध-तर्पण करनेकी भावना ही नहीं होती। अगर लोक-लिहाजमें आकर वे श्राद्ध-तर्पण करते भी हैं, तो भी शास्त्रविधिके अनुसार उनका श्राद्ध-तर्पणमें अधिकार न होनेसे वह पिण्ड-पानी पितरोंको मिलता ही नहीं। इस तरह जब पितरोंको आदरबुद्धिसे और शास्त्रविधिके अनुसार पिण्ड-जल नहीं मिलता, तब उनका अपने स्थानसे पतन हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—पितरोंमें एक ‘आजान’ पितर होते हैं और एक ‘मर्त्य’ पितर। पितरलोकमें रहनेवाले पितर ‘आजान’ हैं और मनुष्यलोकसे मरकर गये पितर ‘मर्त्य’ हैं। श्राद्ध और तर्पण न मिलनेसे मर्त्य पितरोंका पतन होता है। पतन उन्हीं मर्त्य पितरोंका होता है, जो कुटुम्बसे, सन्तानसे सम्बन्ध रखते हैं और उनसे श्राद्ध-तर्पणकी आशा रखते हैं।

## दोषैरैतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः । उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

एतैः	=इन	दोषैः	= दोषोंसे	कुलधर्माः	= कुलधर्म
वर्णसङ्करकारकैः	=वर्णसंकर	कुलघ्नानाम्	= कुलघातियोंके	च	= और
पैदा		शाश्वताः	= सदासे चलते	जातिधर्माः	= जातिधर्म
करनेवाले		आये		उत्साद्यन्ते	= नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या—‘दोषैरैतैः कुलघ्नानाम्.....कुलधर्माश्च शाश्वताः’—युद्धमें कुलका क्षय होनेसे कुलके साथ चलते आये कुलधर्मोंका भी नाश हो जाता है। कुलधर्मोंके नाशसे कुलमें अधर्मकी वृद्धि हो जाती है। अधर्मकी वृद्धिसे स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। स्त्रियोंके दूषित होनेसे वर्णसंकर पैदा

हो जाते हैं। इस तरह इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषोंसे कुलका नाश करनेवालोंके जातिधर्म (वर्णधर्म) नष्ट हो जाते हैं।

कुलधर्म और जातिधर्म क्या हैं? एक ही जातिमें एक कुलकी जो अपनी अलग-अलग परम्पराएँ हैं, अलग-

अलग मर्यादाएँ हैं, अलग-अलग आचरण हैं, वे सभी उस कुलके 'कुलधर्म' कहलाते हैं। एक ही जातिके सम्पूर्ण कुलोंके समुदायको लेकर जो धर्म कहे जाते हैं, वे सभी 'जातिधर्म' अर्थात् 'वर्णधर्म' कहलाते हैं, जो कि सामान्य धर्म हैं और शास्त्रविधिसे नियत हैं। इन कुलधर्मोंका और जातिधर्मोंका आचरण न होनेसे ये धर्म नष्ट हो जाते हैं।

## उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन । नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम् ॥ ४४ ॥

जनार्दन	=हे जनार्दन!	मनुष्याणाम्	= (उन) मनुष्योंका	वासः	= वास
उत्सन्नकुलधर्माणाम्	= जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं,	अनियतम्	= बहुत कालतक	भवति	= होता है,
		नरके	= नरकोंमें	इति	= ऐसा (हम)
				अनुशुश्रुम्	= सुनते आये हैं।

व्याख्या—'उत्सन्नकुलधर्माणाम्...अनुशुश्रुम्\*'—भगवान्ने मनुष्यको विवेक दिया है, नया कर्म करनेका अधिकार दिया है। अतः यह कर्म करनेमें अथवा न करनेमें, अच्छा करनेमें अथवा मन्दा करनेमें स्वतन्त्र है। इसलिये इसको सदा विवेक-विचारपूर्वक कर्तव्य-कर्म करने चाहिये। परन्तु मनुष्य सुखभोग आदिके लोभमें आकर अपने विवेकका निरादर कर देते हैं और राग-द्वेषके वशीभूत हो जाते हैं, जिससे उनके आचरण शास्त्र और कुलमर्यादाके विरुद्ध होने लगते हैं। परिणामस्वरूप इस

लोकमें उनकी निन्दा, अपमान, तिरस्कार होता है और परलोकमें दुर्गति, नरकोंकी प्राप्ति होती है। अपने पापोंके कारण उनको बहुत समयतक नरकोंका कष्ट भोगना पड़ता है। ऐसा हम परम्परासे बड़े-बूढ़े गुरुजनोंसे सुनते आये हैं।

'मनुष्याणाम्'—पदमें कुलघाती और उनके कुलके सभी मनुष्योंका समावेश किया गया है अर्थात् कुलघातियोंके पहले जो हो चुके हैं—उन (पितरों)-का, अपना और आगे होनेवाले-(वंश-) का समावेश किया गया है।

सम्बन्ध—युद्धसे होनेवाली अनर्थ-परम्पराके वर्णनका खुद अर्जुनपर क्या असर पड़ा ? इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

## अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् । यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अहो	= यह बड़े आश्चर्य (और)	महत्पापम्	= बड़ा भारी पाप	राज्यसुखलोभेन	= राज्य और सुखके लोभसे
बत	= खेदकी बात है कि	कर्तुम्	= करनेका	स्वजनम्	= अपने स्वजनोंको
वयम्	= हमलोग	व्यवसिताः	= निश्चय कर बैठे हैं,	हन्तुम्	= मारनेके लिये
		यत्	= जो कि	उद्यताः	= तैयार हो गये हैं।

व्याख्या—'अहो बत...स्वजनमुद्यताः'—ये दुर्योधन आदि दुष्ट हैं। इनकी धर्मपर दृष्टि नहीं है। इनपर लोभ सवार हो गया है। इसलिये ये युद्धके लिये तैयार हो जायँ तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। परन्तु हमलोग तो धर्म-अधर्मको, कर्तव्य-अकर्तव्यको, पुण्य-पापको जाननेवाले हैं। ऐसे जानकार होते हुए भी अनजान मनुष्योंकी तरह

हमलोगोंने बड़ा भारी पाप करनेका निश्चय—विचार कर लिया है। इतना ही नहीं, युद्धमें अपने स्वजनोंको मारनेके लिये अस्त्र-शस्त्र लेकर तैयार हो गये हैं! यह हमलोगोंके लिये बड़े भारी आश्चर्यकी और खेद-(दुःख-)की बात है अर्थात् सर्वथा अनुचित बात है।

हमारी जो जानकारी है, हमने जो शास्त्रोंसे सुना है,

\* शोकाविष्ट होनेके कारण ही अर्जुनने यहाँ 'अनुशुश्रुम्' परोक्ष लिट्की क्रियाका प्रयोग किया है।

गुरुजनोंसे शिक्षा पायी है, अपने जीवनको सुधारनेका विचार किया है, उन सबका अनादर करके आज हमने युद्धरूपी पाप करनेके लिये विचार कर लिया है—यह बड़ा भारी पाप है—‘महत्पापम्’।

इस श्लोकमें ‘अहो’ और ‘बत’—ये दो पद आये हैं। इनमेंसे ‘अहो’ पद आश्चर्यका वाचक है। आश्चर्य यही है कि युद्धसे होनेवाली अनर्थ-परम्पराको जानते हुए भी हमलोगोंने युद्धरूपी बड़ा भारी पाप करनेका पक्का निश्चय कर लिया है! दूसरा ‘बत’ पद खेदका, दुःखका वाचक है। दुःख यही है कि थोड़े दिन रहनेवाले राज्य और सुखके लोभमें आकर हम अपने कुटुम्बियोंको मारनेके लिये तैयार हो गये हैं!

पाप करनेका निश्चय करनेमें और स्वजनोंको मारनेके लिये तैयार होनेमें केवल राज्यका और सुखका लोभ ही कारण है। तात्पर्य है कि अगर युद्धमें हमारी विजय हो जायगी तो हमें राज्य, वैभव मिल जायगा, हमारा आदर-सत्कार होगा, हमारी महत्ता बढ़ जायगी, पूरे राज्यपर हमारा प्रभाव रहेगा, सब जगह हमारा हुक्म चलेगा, हमारे पास धन होनेसे हम मनचाही भोग-सामग्री जुटा लेंगे, फिर खूब आराम करेंगे, सुख भोगेंगे—इस तरह हमारेपर राज्य और सुखका लोभ छा गया है, जो हमारे-जैसे मनुष्योंके लिये सर्वथा अनुचित है।

इस श्लोकमें अर्जुन यह कहना चाहते हैं कि अपने सद्विचारोंका, अपनी जानकारीका आदर करनेसे ही शास्त्र, गुरुजन आदिकी आज्ञा मानी जा सकती है। परन्तु जो मनुष्य अपने सद्विचारोंका निरादर करता है, वह शास्त्रोंकी, गुरुजनोंकी और सिद्धान्तोंकी अच्छी-अच्छी बातोंको सुनकर भी उन्हें धारण नहीं कर सकता। अपने सद्विचारोंका बार-बार निरादर, तिरस्कार करनेसे सद्विचारोंकी सृष्टि बंद हो जाती है। फिर मनुष्यको दुर्गुण-दुराचारसे रोकनेवाला है ही

कौन ? ऐसे ही हम भी अपनी जानकारीका आदर नहीं करेंगे, तो फिर हमें अनर्थ-परम्परासे कौन रोक सकता है ? अर्थात् कोई नहीं रोक सकता।

यहाँ अर्जुनकी दृष्टि युद्धरूपी क्रियाकी तरफ है। वे युद्धरूपी क्रियाको दोषी मानकर उससे हटना चाहते हैं; परन्तु वास्तवमें दोष क्या है—इस तरफ अर्जुनकी दृष्टि नहीं है। युद्धमें कौटुम्बिक मोह, स्वार्थभाव, कामना ही दोष है, पर इधर दृष्टि न जानेके कारण अर्जुन यहाँ आश्चर्य और खेद प्रकट कर रहे हैं, जो कि वास्तवमें किसी भी विचारशील, धर्मात्मा, शूरीय कर्त्रियके लिये उचित नहीं है।

[ अर्जुनने पहले अङ्गीसर्वे श्लोकमें दुर्योधनादिके युद्धमें प्रवृत्त होनेमें, कुलक्षयके दोषमें और मित्रद्रोहके पापमें लोभको कारण बताया; और यहाँ भी अपनेको राज्य और सुखके लोभके कारण महान् पाप करनेको उद्यत बता रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन पापके होनेमें ‘लोभ’ को हेतु मानते हैं। फिर भी आगे तीसरे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनने ‘मनुष्य न चाहता हुआ भी पापका आचरण क्यों कर बैठता है’—ऐसा प्रश्न क्यों किया ? इसका समाधान है कि यहाँ तो कौटुम्बिक मोहके कारण अर्जुन युद्धसे निवृत्त होनेको धर्म और युद्धमें प्रवृत्त होनेको अधर्म मान रहे हैं अर्थात् उनकी शरीर आदिको लेकर केवल लौकिक दृष्टि है, इसलिये वे युद्धमें स्वजनोंको मारनेमें लोभको हेतु मान रहे हैं। परन्तु आगे गीताका उपदेश सुनते-सुनते उनमें अपने श्रेय—कल्याणकी इच्छा जाग्रत् हो गयी (गीता—तीसरे अध्यायका दूसरा श्लोक)। इसलिये वे कर्तव्यको छोड़कर न करनेयोग्य काममें प्रवृत्त होनेमें कौन कारण है—ऐसा पूछते हैं अर्थात् वहाँ (तीसरे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें) अर्जुन कर्तव्यकी दृष्टिसे, साधककी दृष्टिसे पूछते हैं। ]

सम्बन्ध—आश्चर्य और खेदमें निमग्न हुए अर्जुन आगेके श्लोकमें अपनी दलीलोंका अन्तिम निर्णय बताते हैं।

**यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।**

**धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥**

यदि = अगर (ये)  
शस्त्रपाणयः = हाथोंमें शस्त्र-  
अस्त्र लिये हुए  
धार्तराष्ट्राः = धृतराष्ट्रके  
पक्षपाती  
लोग

रणे = युद्धभूमिमें  
अप्रतीकारम् = सामना न  
करनेवाले  
अशस्त्रम् = (तथा)  
शस्त्ररहित  
माम् = मुझे

हन्युः = मार भी दें (तो)  
तत् = वह  
मे = मेरे लिये  
क्षेमतरम् = बड़ा ही  
हितकारक  
भवेत् = होगा।

व्याख्या—‘यदि माम्.....क्षेमतरं भवेत्’—अर्जुन कहते हैं कि अगर मैं युद्धसे सर्वथा निवृत्त हो जाऊँगा, तो शायद ये दुर्योधन आदि भी युद्धसे निवृत्त हो जायँगे। कारण कि हम कुछ चाहेंगे ही नहीं, लड़ेंगे भी नहीं, तो फिर ये लोग युद्ध करेंगे ही क्यों? परन्तु कदाचित् जोशमें भरे हुए तथा हाथोंमें शस्त्र धारण किये हुए ये धृतराष्ट्रके पक्षपाती लोग ‘सदाके लिये हमारे रास्तेका काँटा निकल जाय, वैरी समाप्त हो जाय’—ऐसा विचार करके सामना न करनेवाले तथा शस्त्ररहित मेरेको मार भी दें, तो उनका वह मारना मेरे लिये हितकारक ही होगा। कारण कि मैंने युद्धमें गुरुजनोंको मारकर बड़ा भारी पाप करनेका जो निश्चय किया था, उस निश्चयरूप पापका प्रायश्चित्त हो जायगा, उस पापसे मैं शुद्ध हो जाऊँगा। तात्पर्य है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो मैं भी पापसे बचूँगा और मेरे कुलका भी नाश नहीं होगा।

[जो मनुष्य अपने लिये जिस किसी विषयका वर्णन करता है, उस विषयका उसके स्वयंपर असर पड़ता है। अर्जुनने भी जब शोकाविष्ट होकर अट्टाईसवें श्लोकसे बोलना आरम्भ किया, तब वे उतने शोकाविष्ट नहीं थे, जितने वे अब शोकाविष्ट हैं। पहले अर्जुन युद्धसे उपरत नहीं हुए, पर शोकाविष्ट होकर बोलते-बोलते अन्तमें वे युद्धसे उपरत हो जाते हैं और बाणसहित धनुषका त्याग करके बैठ जाते हैं। भगवान्ने यह सोचा कि अर्जुनके बोलनेका वेग निकल जाय तो मैं बोलूँ अर्थात् बोलनेसे अर्जुनका शोक बाहर आ जाय, भीतरमें कोई शोक बाकी न रहे, तभी मेरे वचनोंका उसपर असर होगा। अतः भगवान् बीचमें कुछ नहीं बोले।]

### विशेष बात

अबतक अर्जुनने अपनेको धर्मात्मा मानकर युद्धसे निवृत्त होनेमें जितनी दलीलें, युक्तियाँ दी हैं, संसारमें रचे-पचे लोग अर्जुनकी उन दलीलोंको ही ठीक समझेंगे और आगे भगवान् अर्जुनको जो बातें समझायेंगे, उनको ठीक नहीं समझेंगे! इसका कारण यह है कि जो मनुष्य जिस स्थितिमें हैं, उस स्थितिकी, उस श्रेणीकी बातको ही वे ठीक समझते हैं; उससे ऊँची श्रेणीकी बात वे समझ ही नहीं सकते। अर्जुनके भीतर कौटुम्बिक मोह है और उस मोहसे आविष्ट होकर ही वे धर्मकी, साधुताकी बड़ी अच्छी-अच्छी बातें कह रहे हैं। अतः जिन लोगोंके भीतर कौटुम्बिक मोह है, उन लोगोंको ही अर्जुनकी बातें ठीक लगेंगी। परन्तु भगवान्की दृष्टि जीवके कल्याणकी तरफ

है कि उसका कल्याण कैसे हो? भगवान्की इस ऊँची श्रेणीकी दृष्टिको वे (लौकिक दृष्टिवाले) लोग समझ ही नहीं सकते। अतः वे भगवान्की बातोंको ठीक नहीं मानेंगे, प्रत्युत ऐसा मानेंगे कि अर्जुनके लिये युद्धरूपी पापसे बचना बहुत ठीक था, पर भगवान्ने उनको युद्धमें लगाकर ठीक नहीं किया!

वास्तवमें भगवान्ने अर्जुनसे युद्ध नहीं कराया है, प्रत्युत उनको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराया है। युद्ध तो अर्जुनको कर्तव्यरूपसे स्वतः प्राप्त हुआ था। अतः युद्धका विचार तो अर्जुनका खुदका ही था; वे स्वयं ही युद्धमें प्रवृत्त हुए थे, तभी वे भगवान्को निमन्त्रण देकर लाये थे। परन्तु उस विचारको अपनी बुद्धिसे अनिष्टकारक समझकर वे युद्धसे विमुख हो रहे थे अर्थात् अपने कर्तव्यके पालनसे हट रहे थे। इसपर भगवान्ने कहा कि यह जो तू युद्ध नहीं करना चाहता, यह तेरा मोह है। अतः समयपर जो कर्तव्य स्वतः प्राप्त हुआ है, उसका त्याग करना उचित नहीं है।

कोई बद्रीनारायण जा रहा था; परन्तु रास्तेमें उसे दिशाभ्रम हो गया अर्थात् उसने दक्षिणको उत्तर और उत्तरको दक्षिण समझ लिया। अतः वह बद्रीनारायणकी तरफ न चलकर उलटा चलने लग गया। सामनेसे उसको एक आदमी मिल गया। उस आदमीने पूछा कि ‘भाई! कहाँ जा रहे हो?’ वह बोला—‘बद्रीनारायण’। वह आदमी बोला कि ‘भाई! बद्रीनारायण इधर नहीं है, उधर है। आप तो उलटे जा रहे हैं!’ अतः वह आदमी उसको बद्रीनारायण भेजनेवाला नहीं है; किन्तु उसको दिशाका ज्ञान कराकर ठीक रास्ता बतानेवाला है। ऐसे ही भगवान्ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराया है, युद्ध नहीं कराया है।

स्वजनोंको देखनेसे अर्जुनके मनमें यह बात आयी थी कि मैं युद्ध नहीं करूँगा—‘न योत्स्ये’ (२।९), पर भगवान्का उपदेश सुननेपर अर्जुनने ऐसा नहीं कहा कि मैं युद्ध नहीं करूँगा; किन्तु ऐसा कहा कि मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा;—‘करिष्ये वचनं तव’ (१८।७३) अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन करूँगा। अर्जुनके इन वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि भगवान्ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराया है।

वास्तवमें युद्ध होना अवश्यम्भावी था; क्योंकि सबकी आयु समाप्त हो चुकी थी। इसको कोई भी टाल नहीं सकता था। स्वयं भगवान्ने विश्वरूपदर्शनके समय अर्जुनसे कहा है कि ‘मैं बढ़ा हुआ काल हूँ और सबका संहार करनेके लिये

यहाँ आया हूँ। अतः तेरे युद्ध किये बिना भी ये विपक्षमें खड़े योद्धानलोग बचेंगे नहीं' (ग्यारहवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। इसलिये यह नरसंहार अवश्यम्भावी होनहार ही था। यह नरसंहार अर्जुन युद्ध न करते, तो भी होता। अगर अर्जुन युद्ध नहीं करते, तो जिन्होंने माँकी आज्ञासे द्रौपदीके साथ अपने सहित पाँचों भाइयोंका विवाह करना स्वीकार कर लिया था, वे युधिष्ठिर तो माँकी युद्ध करनेकी आज्ञासे युद्ध अवश्य करते ही। भीमसेन भी युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते; क्योंकि उन्होंने कौरवोंको मारनेकी प्रतिज्ञा कर रखी थी। द्रौपदीने तो यहाँतक कह दिया था कि अगर मेरे पति (पाण्डव) कौरवोंसे युद्ध नहीं करेंगे तो, मेरे पिता (द्रुपद),

भाई (धृष्टद्युम्न) और मेरे पाँचों पुत्र तथा अभिमन्यु कौरवोंसे युद्ध करेंगे\*। इस तरह ऐसे कई कारण थे, जिससे युद्धको टालना सम्भव नहीं था।

होनहारको रोकना मनुष्यके हाथकी बात नहीं है; परन्तु अपने कर्तव्यका पालन करके मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है और कर्तव्यच्युत होकर अपना पतन कर सकता है। तात्पर्य है कि मनुष्य अपना इष्ट-अनिष्ट करनेमें स्वतन्त्र है। इसलिये भगवान्ने अर्जुनको कर्तव्यका ज्ञान कराकर मनुष्यमात्रको उपदेश दिया है कि उसे शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहना चाहिये, उससे कभी च्युत नहीं होना चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने अपनी दलीलोंका निर्णय सुना दिया। उसके बाद अर्जुनने क्या किया— इसको संजय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

सञ्जय उवाच

**एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।  
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥**

संजय बोले—

एवम्	= ऐसा	अर्जुनः	= अर्जुन	सङ्ख्ये	= युद्धभूमिमें
उक्त्वा	= कहकर	सशरम्	= बाणसहित	रथोपस्थे	= रथके
शोकसंविग्नमानसः	= शोकाकुल मनवाले	चापम्	= धनुषका		मध्यभागमें
		विसृज्य	= त्याग करके	उपाविशत्	= बैठ गये।

व्याख्या—'एवमुक्त्वार्जुनः' 'शोकसंविग्नमानसः'— युद्ध करना सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल है, युद्ध करनेसे यहाँ कुटुम्बियोंका नाश होगा, परलोकमें नरकोंकी प्राप्ति होगी आदि बातोंको युक्ति और प्रमाणसे कहकर शोकसे अत्यन्त व्याकुल मनवाले अर्जुनने युद्ध न करनेका पक्का निर्णय कर लिया। जिस रणभूमिमें वे हाथमें धनुष लेकर उत्साहके साथ आये थे, उसी रणभूमिमें उन्होंने अपने बायें हाथसे गाण्डीव धनुषको और दायें हाथसे बाणको नीचे रख दिया और स्वयं रथके मध्यभागमें अर्थात् दोनों सेनाओंको देखनेके लिये जहाँपर खड़े थे, वहींपर शोकमुद्रामें बैठ गये।

अर्जुनकी ऐसी शोकाकुल अवस्था होनेमें मुख्य कारण है— भगवान्का भीष्म और द्रोणके सामने रथ खड़ा करके

अर्जुनसे कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहना और उनको देखकर अर्जुनके भीतर छिपे हुए मोहका जाग्रत् होना। मोहके जाग्रत् होनेपर अर्जुन कहते हैं कि युद्धमें हमारे कुटुम्बी मारे जायेंगे। कुटुम्बियोंका मरना ही बड़े नुकसानकी बात है। दुर्योधन आदि तो लोभके कारण इस नुकसानकी तरफ नहीं देख रहे हैं। परन्तु युद्धसे कितनी अनर्थ परम्परा चल पड़ेगी—इस तरफ ध्यान देकर हमलोगोंको ऐसे पापसे निवृत्त हो ही जाना चाहिये। हमलोग राज्य और सुखके लोभसे कुलका संहार करनेके लिये रणभूमिमें खड़े हो गये हैं—यह हमने बड़ी भारी गलती की! अतः युद्ध न करते हुए शस्त्ररहित मेरेको यदि सामने खड़े हुए योद्धानलोग मार भी दें, तो उससे मेरा हित ही होगा। इस तरह अन्तःकरणमें

\* यदि भीमार्जुनौ कृष्ण कृपणौ सन्धिकामुकौ। पिता मे योत्स्यते वृद्धः सह पुत्रैर्महारथैः ॥

पञ्च चैव महावीर्याः पुत्रा मे मधुसूदन। अभिमन्युं पुरस्कृत्य योत्स्यन्ते कुरुभिः सह ॥

( महाभारत, उद्योग० ८२। ३७-३८ )

मोह छा जानेके कारण अर्जुन युद्धसे उपरत होनेमें एवं अपने मर जानेमें भी हित देखते हैं और अन्तमें उसी मोहके कारण बाणसहित धनुषका त्याग करके विषादमग्न होकर

बैठ जाते हैं। यह मोहकी ही महिमा है कि जो अर्जुन धनुष उठाकर युद्धके लिये तैयार हो रहे थे, वही अर्जुन धनुषको नीचे रखकर शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'अर्जुनविषादयोग' नामक पहला अध्याय पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर महर्षि वेदव्यासजीने जो उपर्युक्त पुष्पिका लिखी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका विशेष माहात्म्य और प्रभाव ही प्रकट किया गया है।

'ॐ, तत्, सत्\*'—ये तीनों सच्चिदानन्दधन परमात्माके पवित्र नाम हैं। ये मात्र जीवोंका कल्याण करनेवाले हैं। इनका उच्चारण परमात्माके सम्मुख करता है और शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंके अंग-वैगुण्यको मिटाता है। अतः गीताके अध्यायका पाठ करनेमें श्लोक, पद और अक्षरोंके उच्चारणमें जो-जो भूलें हुई हैं, उनका परिमार्जन करनेके लिये और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक भगवत्-सम्बन्धकी याद आनेके लिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें 'ॐ तत्सत्'का उच्चारण किया गया है।

महर्षि वेदव्यासजीके द्वारा अध्यायके अन्तमें 'ॐ'के उच्चारणका तात्पर्य है कि मेरी रचनाका अंग-वैगुण्य मिट जाय, 'तत्'के उच्चारणका तात्पर्य है कि मेरी रचना भगवत्प्रीत्यर्थ हो जाय और 'सत्'के उच्चारणका तात्पर्य है कि मेरी रचना सत् अर्थात् अविनाशी फल देनेवाली हो जाय। 'इति'—बस, मेरा यही प्रयोजन है। इसके सिवाय मेरा व्यक्तिगत और कोई प्रयोजन नहीं है।

जो 'श्रीमत्' अर्थात् सर्वशोभासम्पन्न हैं और जिनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये छः 'भग' नित्य विद्यमान रहते हैं, उन भगवान्के मुखसे निकली हुई होनेके कारण इसको 'श्रीमत् भगवत्' कहा गया है।

जब मनुष्य मस्तीमें, आनन्दमें होता है, तब उसके मुखसे स्वतः गीत निकलता है। भगवान्ने इसको मस्तीमें आकर गाया है, इसलिये इसका नाम 'गीता' है। यद्यपि संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार इसका नाम 'गीतम्' होना चाहिये था, तथापि उपनिषद्-स्वरूप होनेसे स्त्रीलिंग शब्द 'गीता'का प्रयोग किया गया है।

इसमें सम्पूर्ण उपनिषदोंका सारतत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी भगवद्वाणी होनेसे उपनिषद्-स्वरूप है, इसलिये इसे 'उपनिषद्' कहा गया है।

वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका आग्रह न रखकर प्राणिमात्रका कल्याण करनेवाली सर्वश्रेष्ठ विद्या होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है। इस ब्रह्मविद्यास्वरूप गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि योगसाधनोंकी शिक्षा दी गयी है, जिससे साधकको परमात्माके साथ अपने नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाय। इसलिये इसे 'योगशास्त्र' कहा गया है।

यह साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तप्रवर अर्जुनका संवाद है। अर्जुनने निःसंकोच-भावसे बातें पूछी हैं और भगवान्ने उदारतापूर्वक उनका उत्तर दिया है। इन दोनोंके ही भाव इसमें हैं। अतः इन दोनोंके नामसे इस गीताशास्त्रकी विशेष महिमा होनेके कारण इसे 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' नामसे कहा गया है।

इस पहले अध्यायमें अर्जुनके विषादका वर्णन है। यह विषाद भी भगवान् अथवा सन्तोंका संग मिल जानेपर संसारसे वैराग्य उत्पन्न करके कल्याण करनेवाला हो जाता है। यद्यपि दुर्योधनादिको भी विषाद हुआ है, तथापि उनमें भगवान्से विमुखता होनेके कारण उनका विषाद 'योग' नहीं हुआ। केवल अर्जुनका विषाद ही भगवान्की सम्मुखता होनेके कारण 'योग' अर्थात् भगवान्के नित्य-सम्बन्धका अनुभव करानेवाला हो गया। इसलिये इस अध्यायका नाम 'अर्जुनविषादयोग' रखा गया है।

प्रत्येक अध्यायके अन्तमें पुष्पिका देनेका तात्पर्य है कि अगर साधक एक अध्यायका भी ठीक तरहसे मनन-विचार करे, तो उस एक ही अध्यायसे उसका कल्याण हो जायगा।

\* द्रष्टव्य—गीता—सत्रहवें अध्यायके तेईसवें से सत्ताईसवें श्लोकतक।

**परिशिष्ट भाव**—गीताकी पुष्पिकामें 'ब्रह्मविद्यायाम्', 'योगशास्त्रे' और 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे'—ये तीन पद तो एकवचनमें आये हैं, पर 'श्रीमद्भगवद्गीतासु' और 'उपनिषत्सु'—ये दो पद बहुवचनमें आये हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवद्वाणी सम्पूर्ण उपनिषदोंमें श्रीमद्भगवद्गीता भी एक उपनिषद् है, जिसमें 'ब्रह्मविद्या' (ज्ञानयोग), 'योगशास्त्र' (कर्मयोग) और 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' (भक्तियोग)—तीनों आये हैं।

गीतामें 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' का आरम्भ और अन्त भक्तिमें ही हुआ है। आरम्भमें अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भगवान्के शरण होते हैं। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (२।७) और अन्तमें भगवान्के द्वारा 'मामेकं शरणं ब्रज' पदोंसे पूर्ण शरणागतिकी प्रेरणा करनेपर अर्जुन पूर्णतया शरणागत हो जाते हैं।—'करिष्ये वचनं तव' (१८।७३)। अर्जुनने अपने श्रेय-(कल्याण-) का उपाय पूछा था (२।७, ३।२, ५।१), इसलिये भगवान्ने गीतामें 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग' का भी वर्णन किया है।

### पहले अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें 'अथ प्रथमोऽध्यायः' के तीन, 'धृतराष्ट्र उवाच' 'सञ्जय उवाच' आदि पदोंके बारह, श्लोकोंके पाँच सौ अट्ठान और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ छियासी है।

(२) इस अध्यायमें 'अथ प्रथमोऽध्यायः' के सात, 'धृतराष्ट्र उवाच' 'सञ्जय उवाच' आदि पदोंके सैंतीस, श्लोकोंके एक हजार पाँच सौ चार और पुष्पिकाके अड़तालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार पाँच सौ छियानबे है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें छः 'उवाच' हैं—एक 'धृतराष्ट्र उवाच', तीन 'सञ्जय उवाच' और दो 'अर्जुन उवाच'।

### पहले अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके सैंतालीस श्लोकोंमेंसे—पाँचवें और तैंतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा तैंतालीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'र-विपुला'; और पचीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा नवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष बयालीस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।